अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन

३५वाँ अधिवेशन

All-India Oriental Conference

Thirty-Fifth Session

16-18 नवम्बर, 1990

शोधपत्र–सार

SUMMARIES OF PAPERS

'गुरुकुल-पत्रिका विशेषांक'

सम्पादक

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री   डा० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

1990

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन

३५वाँ अधिवेशन

All-India Oriental Conference

Thirty-Fifth Session

16-18 नवम्बर, 1990

शोधपत्र–सार

SUMMARIES OF PAPERS

सम्पादक

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
सस्कृत विभाग

आचार्य डा० जयदेव वेदालंकार
पी-एच.डी., डी.लिट्.
अध्यक्ष, दर्शन विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

1990

प्रकाशक—

डा० वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्पादकमण्डल—

डा० महावीर अग्रवाल - अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डा० विजयपाल शास्त्री—वरिष्ठ प्रवक्ता, दर्शन विभाग
डा० यू० एस० बिष्ट—वरिष्ठ प्रवक्ता, दर्शन विभाग

मुद्रक—

जैना प्रिंटर्स, ज्वालापुर

विषय-सूची

आमुख

अमर बलिदानी एवं स्वातन्त्र्य-संग्राम-यज्ञ के पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द ने शिक्षा-जगत् में किन्हीं विशिष्ट क्रान्तिकारी परिवर्तनों को लक्ष्य में रखकर एवं चिरन्तन मानव-मूल्यों की स्थापना के लिए गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। स्वामी जी का विचार था कि गुरुकुल का विद्यार्थी जब स्नातक होकर निकले तब उसके पास वैदिक मर्यादाओं से मण्डित उत्तम चरित्र और पुरातन ऋषियों के शाश्वत नैतिक सिद्धान्तों की पूँजी तो हो ही, वह आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान का भी परम ज्ञाता हो। राष्ट्र की सर्वाङ्गीण प्रगति पुरातन और आधुनिक, दोनों ज्ञानों के समन्वित उपयोग से ही हो सकती है। दोनों में से किसी एक की अवहेलना कर हम विकलाँग हो जायेंगे। यह संस्था अपने स्थापना-काल से ही इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर कृतसंकल्प हो, अग्रसर है।

आज अनेक विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय सतत शिक्षणकार्य में रत हैं फिर भी शिक्षा में पुरातन वैदिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो पा रही है। प्रतिदिन नई-नई भीषण समस्याएँ जन्म ले रही हैं। निर्धनता, विषमता, अलगाववाद, आतंकवाद, विघटन, उत्कोच, भ्रष्टाचार, अपराधीकृत राजनीति, साम्प्रदायिकता आदि ऐसे कुछ विकराल दानव हैं जिनकी दंष्ट्राओं में फँसी हुई मानवता असहाय-सी प्रतीत हो रही है। ऐसी विकट परिस्थिति में गुरुकुलीय शिक्षापद्धति में अपनाये गए चिरन्तन वैदिक और स्मृति सूत्र ही यथार्थ एवं चिरस्थायी समाधान प्रस्तुत कर सकते है।

सा विद्या या विमुक्तये ।
विद्या ददाति विनयम् ।
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन. ।।
समानि व आकूतिः ।
संगच्छध्वं संवदध्वं ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।
ईशावास्यमिदं सर्वम् ।
पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।
वसुधैव कुटुम्बकम् ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।
सर्वे भवन्तु सुखिनः । इत्यादि सूत्र हमारे लिये प्रकाशस्तम्भ हैं ।

उपरोक्त वैदिक मूल्य सभी कालों और सभी देशों में समानरूप से उपयोगी हैं। इन मूल्यों की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी अनेक युगों पहले थी। इन मूल्यों के पुनरुद्‌बोधन, प्रचार एवं प्रसार के लिए प्राच्यविद्या सम्मेलन और संगोष्ठियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में समय-समय पर विचारोत्तेजक सम्मेलन, गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं। इनमें देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अधिकारी-विद्वान् एकत्र होकर परस्पर विचार-मन्थन करते हैं।

इस वर्ष गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में १६ से १८ नवम्बर १९९० तक भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। स्थानीय सचिव के रूप में श्री वेदप्रकाश शास्त्री, रीडर–संस्कृत विभाग, इस सम्मेलन की व्यवस्था का गुरुतर कार्य वहन कर रहे हैं। अपने सीमित साधनों के बावजूद गुरुकुल परिवार इस सम्मेलन की सफलता के लिए निष्ठा और तन-मन-धन के साथ कटिबद्ध है।

सम्मेलन के अवसर पर अनेक विद्वानों के शोधपत्र हमें प्राप्त हुए हैं। समय और साधनों के अभाव के कारण इनका संक्षिप्त-सार ही प्रकाशित किया जा रहा है।

मुझे विश्वास है कि हमारे सामर्थ्य की सीमाओं के बावजूद यह सम्मेलन आप सबके सहयोग से अवश्य सफल रहेगा। आशा है मनीषी विद्वज्जनों के विचार-मन्थन के परिणामस्वरूप समाज और राष्ट्र के लिए संजीवनी अवश्य प्राप्त होगी।

—सुभाष विद्यालंकार
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

पुरोवाक्

यह अत्यधिक प्रसन्नता का विषय है कि अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन का ३५वाँ वार्षिक अधिवेशन १६ नवम्बर से १८ नवम्बर १९९० तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के विशाल प्राङ्गण में सम्पन्न होने जा रहा है । इस अवसर पर समस्त शोध-पत्र, जो कि निश्चित समय पर प्राप्त हो गये थे, का सारांश प्रकाशित किया जा रहा है।

यह ज्ञातव्य है कि शोध-पत्रों का सारांश अनेक कारणों से प्रकाशित करना सम्भव-सा प्रतीत नहीं हो रहा था और शोध-पत्रों का सारांश अति विलम्ब से प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। यह शोध-सार जिस व्यवस्थित एवं विशाल रूप में प्रकाशित होना अपेक्षित था, उस रूप में प्रकाशित नहीं हो पाया है । अतः शोध-पत्र सारांश अति संक्षेप में ही प्रकाशित हो पाया है। परिशिष्ट में सभी शेष शोध-पत्रों के नाम एवं लेखकों के मात्र नाम ही दिए गए हैं ।

अन्त में हम डा० जयदेव वेदालंकार को धन्यवाद एवं बधाई देते हैं कि उनके अथक् प्रयास एवं परिश्रम से यह शोध-सार समय पर प्रकाशित हो सका है।

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
स्थानीय सचिव

डा. एस. डी. जोशी
सचिव, अ. भा. प्राच्यविद्या सम्मेलन

सम्पादकीय

प्राच्यविद्याओं का साहित्य ज्ञान की अनुपम निधि है। भारतीय वैदिक वाङ्मय के विषय में यह निर्विवाद माना जाता है कि वह विश्व के अन्य साहित्य से प्राचीनतम है। प्राचीनतम का यह अभिप्राय नहीं है कि वह अविकसित है। वस्तुतः वैदिकसाहित्य में धर्म, दर्शन, संस्कृति, विज्ञान और कला आदि का बर्णन सुस्पष्ट एवं इतना गहन है कि आज भी वह प्रासंगिक और नूतन कहा जा सकता है।

वेद में मानवसमाज को सुसंस्कृत एवं उच्च आदर्शों पर चल कर वास्तविक अर्थ में मनुष्य बनने को कहा गया है।

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ ऋग्वेद

हे मनुष्य! तू अपने जीवनतन्तु का विचार करता हुआ अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर। इसके लिए बुद्धि से युक्त ज्योतिष्मान् मार्गों का अनुसरण करता हुआ, उलझनरहित मार्ग को अपनाकर, विद्वानों के प्रकाशयुक्त पथ का अवलम्बन करता हुआ, शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ, मननशील होकर सच्चे अर्थों में मनुष्य बन।

बेदों में जहाँ दर्शन, संस्कृति, कला, धर्म और विज्ञान आदि का वर्णन मिलता है, वहीं जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य के सम्मुख वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है।

वर्तमान युग में मानवसमुदाय के समक्ष अनेक प्रकार की जटिल समस्यायें विकराल रूप धारण किए हुए हैं। यह ठीक है कि आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। इस युग में विज्ञान की उन्नति से वे सभी सुविधायें सामान्य व्यक्ति को सहज उपलब्ध हैं जो अपेक्षित हैं, परन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि जहाँ भूगोल की दूरी तो समाप्त होती जा रही है वहाँ हमारे मन की दूरी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। विश्व में मानसिक तनाव बड़ी तीव्रगति से बढ़ता जा रहा है, इससे मानवजाति कुण्ठाग्रस्त होती जा रही है। मानवीय मूल्यों का ह्रास शिक्षा, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में दिन-प्रतिदिन हो रहा है। आज नैतिकता जैसी वस्तु का नाम लेना भी कठिन जान पड़ता है। इसलिए

ही प्राय: विश्व के सभी भागों में समाज के प्रत्येक स्तर पर गिरावट आई है और आतंकवाद एवं आत्महत्या का बोलबाला होता जा रहा है।

विश्व में मूल्यरहित स्वकेन्द्रित समाज क्यों बना? यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। स्वतन्त्रता से पहले अपने स्तर से उभर पाने के अवसर बड़े सीमित थे। सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों ने समाज व देश के प्रति कर्तव्यभावना को प्रेरित किया जो समर्पित नेतृत्व व त्याग की अनेक मिसालों से पुष्ट हुई। धार्मिक विश्वास से प्रेरित कुछ सन्तोष, पर साथ ही गुलामी व दमन जनित उदासीनता भी थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् पञ्चवर्षीय योजनाओं द्वारा देश के आधुनिकीकरण व विज्ञान और तकनीकी के उपयोग से भौतिक साधनों का विकास तीव्र किया गया। इस प्रयास में काफी हद तक सफलता भी मिली। किन्तु विकास की उपलब्धियों के लिए नैतिक ह्रास की कीमत चुकानी पड़ी। उपलब्धियाँ प्राप्त करने की जल्दी में हमारा ध्यान केवल परिणाम पर रहा, हम साधनों को भूल गये—जिन पर महात्मा गाँधी ने इतना बल दिया। उपलब्धियों के वितरण में विषमताएँ न केवल आई किन्तु बढ़ती गई। यद्यपि समाजवाद व पूँजीवाद दोनो ही पद्धतियों से जिन देशों में जिस काल में तीव्रगति से आर्थिक विकास हुआ, वह किसी न किसी वर्ग के शोषण पर आश्रित था, तो भी जितनी असमानता एवं विषमताएँ भारतीय समाज में पोषित हुई उतनी कुछ दूसरे देशों के उदाहरण से देख सकते है। मानवीय मूल्यों का ह्रास बहुत हद तक आर्थिक विकास के बड़े-से-बड़े भाग पर कब्जा करने की समुदायो या व्यक्तियों की होड़ की एक अभिव्यक्ति है। विसगतियों में कमी मूल्यों के पुनर्स्थापना के लिए पर्याप्त तो नही, किन्तु आवश्यक अवश्य है।

वह चाहे मूल्यों की समस्या हो या किसी अन्य प्रकार की समस्या हो, इन सभी प्रकार की उपर्युक्त समस्याओं का समाधान हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त हो सकता है। वेद और उपनिषदों में अनेक प्रकार के उपायों के मूलसूत्र सहज ही उपलब्ध हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्राच्यविद्याओं के विद्वान अपनी लेखनी एवं कर्म से विश्व मे इस प्रकार का पर्यावरण बनाने मे एकजुट हो जाएँ।

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के इस अवसर पर सैकड़ों प्राच्यविद्याओं के विद्वान एकत्रित हो रहे है। इस अवसर पर वे अपने शोध-पत्रों का विचारमन्थन भी प्रस्तुत करेगे। यह विचारमन्थन किसी निष्कर्ष पर पहुँच सके, यह अति उत्तम होगा।

मुझे इन शोधपत्रों के साराँश के प्रकाशित करने के लिए प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, सचिव ने केवल अठारह दिन का समय प्रदान किया जो कि अत्यल्प है। इस थोड़े से समय में इस शोधपत्र साराँश में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहना सम्भव है। कम समय को देखते हुए जो भी बन पड़ा वह इस शोधपत्र साराँश स्मारिका में मान्य विद्वान प्रतिनिधिगण के समक्ष प्रस्तुत है। इसमें जो भी त्रुटियाँ हैं उनके लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करता हुआ क्षमाप्रार्थी हूँ।

—जयदेव वेदालंकार

'संस्कृतभाषा खण्ड'

एधिशाध्योर्विशेषः

डा० कृपाराम त्रिपाठी, बलारामपुरम्

पाणिनीयाष्टाध्याया: सिद्धासिद्धासिद्धवदिति त्रिधा विखण्डनं परिकल्पितमस्ति । तत्र सिद्ध खण्डे सूत्राणि परस्परं सिद्धान्यभिमतानि । असिद्धखण्डेऽसिद्धवत्खण्डे च परस्पर मसि द्धान्यभिमतानि । असिद्धवत्खण्डे 'शाधि' इत्यस्य प्रक्रियायां 'शाहौ' इत्यस्य स्थाने 'शाधौ' इति पाठं परिकल्प्य सूत्राणां क्रमे च किञ्चित् परिवर्तनं कृत्वा शाधीति प्रयोग प्रतिपत्तौ असिद्धविधेः काप्यावश्यकता नास्तीति कैश्चिदुक्तम् । किन्त्वत्रैवासिद्धखण्डे एधीत्यस्य निष्पत्तौ असिद्धविधिरेवैकं शरण मस्तीति एधिशाध्यो विशेष मुपस्थाप्य पाणिनीयसूक्ष्मेक्षिकाया एकमुदाहरणं प्रस्तोतु मस्मिन्पत्रे प्रयासो विधीयते । कस्यचिदपि पदस्य प्रक्रियाया मनेके विधयों निषेधाश्च समभिसम्बद्धा जायन्ते ।

दीर्घदीर्घतरो व्यञ्जनाव्यापारः

डा. गोपालकृष्ण दाशः, भुवनेश्वरम्

शब्दव्यापारस्य विषये मतवैविध्यं दृश्यते । अभिधावादिनः 'सोऽयं दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति मतं पोषयन्ति । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः इति न्यायं पुरस्कुर्वन्त आलंकारिका अभिधादीनां व्यापाराणां परिसरं नियमयन्ति । अभिधाव्यापारो मुख्यार्थं बोधयति, लक्षणा लक्ष्यार्थं च । व्यंग्यार्थस्य प्रत्यायने तयोर्व्यापारयो रशक्तत्वात् तत्र व्यापारान्तरस्य नाम व्यञ्जनाव्यापारस्य प्रतिष्ठाम् आलंकारिकाः प्रतिपित्सन्ते ।

संप्रति प्रश्न उदेति यदयं व्यञ्जनाव्यापारः ससीमोऽपरिसीमो वा । स्थलविशेषेषु व्यंग्यार्थस्याऽसीमत्वं दृश्यते ।

व्याकरणशास्त्र शब्दाद्वैतवादः

डा० सत्यप्रकाश दुबे, जोधपुर

व्याक्रियन्ते असाधुशब्देभ्य साधुशब्दाः पृथक्क्रियन्ते (पृथक्कृत्य ज्ञायन्ते) अनेनेति करण व्युत्पत्या असाधुशब्दावधिक साधुशब्दकर्मक पृथक्कृतिपूर्वक साधुशब्दविषयक ज्ञानकरणं व्याकरणमित्यर्थो योगशक्त्या लभ्यते । यथा-गावी, गोणी, गोता इत्यादिभ्योऽसाधुशब्देभ्यो 'गो' इति साधु शब्दस्य पृथक्कृत्य बोधनं व्याकरणशास्त्राधीनम् । पृथक्कृतिश्च 'गच्छतीति गौः' गमेर्डो प्रत्ययः कर्तरि औणादिकः इत्येवं प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषणपूर्विका । एवञ्च साधुशब्दावबोधक शास्त्रं शब्दगत साधुत्वावबोधकं वा शास्त्रं व्याकरणम् । लक्षणेनानेन साधुत्वज्ञानं व्याकरणस्य प्रयोजनमिति प्रमाणितं भवति । लक्ष्य लक्षणे व्याकरणमिति व्याचक्षाणेन भगवता भाष्यकृताऽपि लक्ष्यगतसाधुत्व लक्षकशास्त्रं व्याकरणमिति प्रत्याय्यते येन च पूर्वोक्तं लक्षणं साधु समर्थ्यते ।

भर्त्तृहरिवैराग्यशतकोपरि काव्यान्तरप्रभावः

डा० बालगोविन्द झा, रोहतास

संस्कृतकाव्यजगति स्वीयकाव्यनिर्माणपाटवेन प्रथितयशसं स्वनामधन्यं सुविश्रुतञ्च कविवरं भर्त्तृहरिं को न जानाति सुरभारतीसमुपासकः। कविवरोऽयं नीतिशतकं, शृंगार-शतकं वैराग्यशतकञ्चेति शतकत्रयं विरचय्य कामपि विपुलां कीर्त्तिमासाद्याऽद्यापि संस्कृतकाव्य-गगने भास्वानिव देदीप्यत एव ।

भर्त्तृहरेः व्यक्तित्वकर्त्तृत्वकालादि विषयेषु संस्कृतसाहित्यैतिह्यवित्सु न विद्यते यद्यप्यैकमत्यं तथापि विभिन्नैतिह्यसाक्ष्यैरेतत् प्रमाणितं जातं यद् 'वाक्यपदीय' ग्रन्थप्रणेता सुविदितनामा पदवाक्यप्रमाणज्ञो भर्त्तृहरिरेव शतकत्रयस्यापि रचयिता वर्त्तते।

वेदा नारी प्रपूजकाः

डा० उपेन्द्र झा, दरभङ्गा

अधुनातनाः जनाः ब्रुवते यत् नारीणां पुरुषेण सर्वत्र समानाधिकार. वर्तते, किन्तु कस्मिंश्चिदपि क्षेत्रे तथा न व्यवहरन्ति । किन्तु पुरुषा नारीशोषका इव समाजे सर्वत्र दरीदृश्यन्ते। अधुनातनाः पुरुषाः धनलोलुपाः अहकार-मददर्पिताः विविध-दुर्गुण-दरिद्री-कृताः नपुंसकाइव आत्मानं मन्वानाः स्त्री-समाजं शोषयन्ति । एते विस्मरन्ति यद् यावद् देशे नारीणां यथोचितं सम्मानं न भवेत् तावत् देशस्य समाजस्य सर्वथादुर्दशा तिष्ठेत् एव ।

विभिन्नेषु युगयुगान्तरेषु यदा यदा स्त्रीणां अनादरो जातः तदा तदा समाजः दुर्गतिमापन्नः। बहुशः श्रूयते यत् रामायणकाले, पुराणकाले, महाभारतकाले तथा च वैदे-शिकाना आक्रमणकालेऽपि अस्मिन् भारतेवर्षे नारीणां दुर्दशा आसीत्।

राष्ट्रं धर्म-संस्कृति सम्बद्धम्

धीरेन्द्र झा, दरभङ्गा

अस्माकं राष्ट्रं धर्मोपासनात् विश्वस्मिन्नपि विश्वे गौरवपूर्ण पदमलभत् । अस्य संसारस्य सर्वप्रथमोऽयं देशः यत्र प्रकृतितो निर्गता धर्माः सर्वान् जीवान् स्वतः एवानु-शास्ति । तैत्तिरीयारण्यके धर्ममधिकृत्य श्रुतिरेषा प्रसिद्धा—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥इति॥ सर्वस्यापि जीवस्य सर्वस्मिन्नपि जगति प्रतिष्ठा बीजं धर्म एव वर्तते। मनुष्यः सर्वविधकृतपापानां प्रायश्चित्तं चरित्वा पापमपनुदति। अतएव अस्मिन् जगति सर्वविध उपायानां मूलं धर्मो वर्तते ।

सांख्यशास्त्रे सामान्यविचारः

डा० प्रलयकुमारनन्दः, बालेश्वरम्

पञ्चविंशतिपदार्थानां तत्त्वज्ञानात् मोक्षः भवतीति सांख्यसिद्धान्तः । अतएव मोक्षोपयोगिपदार्थानामेव सांख्ये विचारः कृतः । ईश्वरकृष्णस्य सांख्यकारिकाग्रन्थे बहवः सामान्यशब्दस्य प्रयोगाः अस्माभिः अवलोकिताः । परन्तु इदमेव सामान्यं न तु अस्माकं विचारविषयीभूतं जात्यपरप्र्यायम् । अत्र सामान्यशब्दः 'सामान्यधर्म'' इत्यर्थं बोधयति । परन्तु सांख्यप्रवचनभाष्ये विभिन्नमतावलम्बिनां दार्शनिकानां मतखण्डनावसरे तत्तद्दार्शनिकैः अंगीकृतपदार्थानां विचारप्रसंगे अस्माकं विचार्यस्य सामान्यस्य विषये किञ्चिदुपादानमुपलभ्यते ।

भारविकाव्यसंवादो नैषधचरिते

देवकुमारदासः, कलिकाता

सामान्येन कविप्रकृतिभेदनिबन्धनो हि काव्यसृष्टिप्रभेदः । भारविश्रीहर्षयोः कविप्रकृतिवैचित्र्यमस्ति । कवीनां प्रतिभावैलक्षण्यात् काव्यसृष्टौ वैलक्षण्ये प्रतिभासमानेऽपि अन्तरान्तरा तेषां रचनासु किमपि सादृश्यं दृक्पथमेति । एतादृशसादृश्यविमर्शविधौ प्राच्यालंकारिकयोः ध्वनिकारराजशेखरयोराभिमतम् ।

भारवेः कविप्रतिभायाः बहुमुखित्वमिव श्रीहर्षप्रतिभायाः विभिन्नदिग्गामित्वम् । तयोर्महाकाव्यविरचणविषयिणी संवादसमीक्षा । उभाभ्यामेव कविभ्यां प्राचीनवृत्तान्तमेवोपजीव्य स्वंस्वं काव्यं विरचितम् ।

वक्रोक्तिविभावनायां कुन्तकस्य स्वातन्त्र्यम्

राधानाथ आचार्य्यः, वीरभूमिः

आनन्दवर्धनादर्वाञ्चः काव्यतत्त्वसमीक्षकाः काव्यतत्त्वसमीक्षासरणौ तमेवाचार्य्यप्रवरं प्रायेणानुसृत्य काव्ये ध्वन्यर्थस्यैव सर्वातिशायिप्राधान्यं समभ्युपगम्य तद्दृष्ट्या काव्यतत्त्वस्य विविधा दिशः स्वेषां स्वेषां कृतिषु समीक्षितवन्तः । एतेषु काव्यप्रकाशरचयिता मम्मटभट्टः साहित्यदर्पणनिर्माता विश्वनाथकविराजो रसगङ्गाधरनिबन्धकः पण्डितराजो जगन्नाथश्च विशेषतः समुल्लेखमर्हन्ति ।

वेदेषु विज्ञानम्

डा० महावीर अग्रवाल, गुरुकुल कांगड़ी

कस्याविदितमेतद् यत् समस्तेऽपि विश्वसाहित्ये नित्यसत्यानां विविध विद्याविधान-भूतानां वेदानां स्वीयमनुपमं स्थानं वरीवर्ति । ब्रह्मणः निःश्वासभूता इमाः श्रुतयो भारतीयानां तु प्राणभूताः । अस्माकं निखिलं ज्ञान-विज्ञानमेतेष्वेव निहितं विद्यते । परं केचन वेदविद्याविमुखाः पण्डितम्मन्याः वेदान् केवलन् कर्मकाण्डप्रतिपादकान् एव मन्यन्ते । अनयैव मिथ्याधारणया निबद्धाः अर्वाचीनाः मनीषिणः न वेदेषु श्रद्धधति । यतो हि वैज्ञानिकेऽस्मिन् युगे तदेव साहित्यं शास्त्रं वा सर्वोत्कृष्टतां भजते यत्यात् वैज्ञानिकदृष्टियुपेतम् । अनया दृष्ट्या परीक्षिते श्रुतीनां गौरवं कामप्यन्यामेवानिर्वचनीयां द्युतिं बिभर्ति ।

भारतीयानां दृष्ट्या व्योमपिण्डानां सृष्टिक्रमः

चराचरस्य सृष्टिलयादिकं वीक्षामाणो मानवो व्योमपिण्डानां सृष्टिलयादिविषयं जिज्ञासुर्भवति चेत् कः विस्मयः । जिज्ञासेयं वैदिककालात् भारतीयेषु जागृता, विज्ञानकोशापरपर्यायेषु पुराणेषु विवृद्धा च । ततो दर्शनशास्त्रेषु शास्त्रान्तरेषु च सन्दर्भानुसारं विचारोऽयं विमृष्टः । विशेषतः सिद्धान्तज्यौतिषशास्त्रे गोलाध्यायेषु वैज्ञानिकदृष्ट्या विचारितिश्च । वेदोपनिषत्सु सृष्टि पक्षद्वयं तत्र प्रतिपादितमस्ति प्रथमस्तु सृष्टे पूर्व वारि, स्रष्टा प्रजापतिश्चासीत् । ततो वायुः तत पृथिवीत्यादीनां सृष्टि, (तैत्तिरीय ब्राह्मणे १-१-३), अपरस्तु सृष्टेः पूर्व ब्रह्मा आसीत् । तस्माद् आकाशः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरायः पृथिवी...(तैत्तिरीय उपनिषद् २/१) अत्र सृष्टेः पक्षद्वयस्य कारणं युगीयमहायुगीय-प्रलयसृष्ट्यादिकमिति ।

त्रयीतत्वविमर्शः

डा० अमरनाथ झा, दरभङ्गा

समस्तमिदं ज्ञाताज्ञातं जगत् तत्वत एकम् । 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' इत्यार्षं सत्यम् । एकं तद् निर्विशिष्टत्वाद् अपरिभाष्यं सदपि तत्वद्रष्टृभिः (विप्रैः) बहुधोच्यते । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० १.१६४) । इन्द्रमित्र-वरुण-यमाग्नि-प्रभृतयः शब्दाः श्रुतौ प्रयुक्ताः तस्यैव वाचकाः । तदेतन्मनुनापि समर्थितम्—

'एतमेके वदन्त्यग्निम् मनुमन्ये प्रजापतिम्' (१२.१२३) इत्यादिना । किन्तु एषै मिन्द्राग्नि-शब्दानाम् लोके अन्येष्वपि देव-विशेषेषु रूढत्वाद् आत्मा, ब्रह्म, सद्—इत्येभिः कतिचिच्छब्दैः तद् व्यपदिश्यते सौकर्यार्थम् ।

पाञ्चरात्रशब्दार्थविमर्शः

डा० अशोककुमार कालिया, लखनऊ

शैव-शाक्त-वैष्णव-भेदेन तन्त्राणाम् आगमानां वा त्रैविध्यं सुविदितमेवाऽस्ति विदितवेदितव्यानाम्। तत्र वैष्णवागमानां वैखानस–पाञ्चरात्र-भेदभिन्नानां द्वैविध्यमपि नाऽस्त्यविदितं कस्याऽप्यागमशास्त्रविमर्शकस्य। यद्यपि पाञ्चरात्रशब्दोऽयं बहुप्रयुक्तस्तेषु तेषु ग्रन्थेषु शास्त्रेषु च, तथापि शब्दस्याऽस्याऽर्थविषये महती भ्रान्तिः महांश्च विवादो वर्तते विदुषां मध्ये। बहुविचारितं विद्वद्भिर्विषयेऽस्मिन् स्वकीयानि मतानि चोपन्यस्तानि। वस्तुतः इदमित्थम् इति रीत्या न किमपि वक्तुं शक्यते। अन्तिमनिर्णयश्च कश्चन दृष्टिपथं नोपयाति। पाञ्चरात्रसंहिताग्रन्थेष्वेव शब्दस्या ऽस्याऽर्थो बहुधा प्रपञ्चितः। तस्यास्तस्या उपलब्धपाञ्चरात्रसंहितायाः सम्बद्धांशान् संगृह्य पाञ्चरात्रशब्दस्याऽर्थः पुनर्विचारितोऽस्ति निबन्धेऽस्मिन्।

षष्ठीतत्पुरुषेविभिन्न व्याकरणानि

विश्वनाथ मिश्र, लाडनूं

षष्ठीसमासो विधीयते 'षष्ठी' इति सूत्रेण। तत्र सुपेति तृतीयान्तपदमनुवर्त्य तदन्तविधिना षष्ठ्यन्तं सुबन्तेन सह समस्यत इति भवति सूत्रार्थः। 'राजपुरुषः' इत्यादीनि सन्त्युदाहरणान्यस्य। अविशेषेण समासविधायकेनानेन 'ब्राह्मणयाजकः, 'देवपूजकः' इत्यादौ प्राप्तः समासः 'तृजकाभ्यां कर्तरीति सूत्रेण प्रतिषिद्धः 'याजकादिभिश्च' इति सूत्रेण प्रति-प्रसूयते। पाणिनिव्याकरणे याजकादिगणे तृच्प्रत्ययान्ता अकप्रत्ययान्ताश्च द्वादश शब्दाः याजकपूजक होतृपोतृ प्रभृतयः पठिताः सन्ति, किन्तु तत्र प्रयोजक शब्दस्तु नैव पठतिः।

एकशेषे विशिष्टैकार्थीभावात्मिका शक्तिः

डा० श्रीकृष्ण शर्मा, जोधपुर

शाब्दिकानाम् परमसिद्धान्ते पदात्मको वाक्यात्मकः समासादिवृत्त्यात्मको वा सर्व एव शब्दो नित्यो निरवयवोऽखण्डो वर्ण इव सर्वथैवावयवशून्यः शास्त्रानिष्पाद्यो लोकसिद्ध एव।

परमस्मिन् पक्षे शास्त्रम् नातीव सप्रयोजनम्। अतः 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इत्यनुसन्धाय शास्त्रनिष्पाद्यतापक्षे तत्तदर्थे तत्तत्प्रकृतिप्रत्ययकल्पनया पदा-न्वाख्यानं तेन च वाक्यान्वाख्यानम् समासादिवृत्त्यन्वाख्यानञ्च विहितम्। शास्त्रनिष्पाद्य-तापक्ष एव 'अथ ये वृत्तिं वर्त्तयन्ति किन्त आहुरि' त्युक्तं फणिना 'समर्थः पदविधिः' (पा. सू. २/१/१) इति सूत्रभाष्ये।

उत्तरकालिकासुनाट्यकृतिषु वेणीसंहारस्य प्रभावः

अमलेन्दु षड्या, वर्धमान राजकलेस

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामुपजीव्य कवयो नाट्यकाराश्च यद्यपि नवनव-काव्यानि नाटकानि च विरचयन्ति तथापि तेषां रचनासु पूर्वसुरीणां प्रभावो नितरामालोक्यते । यथैव भट्टनारायण-प्रणीते वेणीसंहारनामधेये नाटके पूर्ववर्त्ति-नाट्यकाराणां भासकालिदासभवभूतिप्रभृतीनां नाट्यकर्मणां प्रभावमालोक्यते तथैवोत्तर-कालिकासु नाट्यकृतिषु वेणीसंहारस्य प्रच्छया अस्माकं दृक्पथमेति । विशेषतो बिशाखदत्तस्य मुद्राराक्षसे तथा राजशेखरस्य वालरामायणे नाटकस्यास्य वेणीसंहारस्य प्रयोगगतं वर्णनगतं भावगतञ्चेति वहुविधं सादृश्यं समालोक्यते । तथाहि वेणीसंहारमुद्राराक्ष-सयोः वीररसप्रधानयोः नाटकयोरेतयोः राजनीतिः समुपस्थापिता उभाभ्यामेव नाट्यकाराभ्याम् ।

तन्त्रपरम्परायां जगन्नाथचेतना

डा० सुरेन्द्रकुमार मिश्र, ओडिशा

श्रीजगन्नाथस्य प्रणवाकारस्वरूपं कालान्तरे वैष्णवागमप्रभावात् ह्रासोऽभूत । प्रतीकवाद: क्रमशः वैष्णवाचार समन्वयेन परिवर्त्तितः संजातः । नारदीयपंचारात्रानुसारं जगन्नाथः "पुरुषोत्तमः" इति प्रमाणितोऽभूत् । पौराणिकसाहित्ये तस्य स्वरूपं परिवर्द्धितम् ।

पुरुषोत्तमः निर्गुणसगुणयोः कल्पनायाः प्रथमविकाशः । अतः स तु रूपारूपयो-र्मध्ये मध्यवर्त्तितत्वप्रतीकः । प्रतीकस्तु निर्द्विष्टरूपरहितः । किन्तु भावसम्मिश्रितः । प्रतीकरूपस्य सुस्पष्टचित्रं उपनिषत्सु उपलभ्यते ।

शाकुन्तले तपोवनद्वयस्य समुपस्थापनतात्पर्यविमर्शः

डा० क्षितिनाथ आचार्य, कलिकाता

ब्रह्मास्वादसहोदरया वेद्यान्तरस्पर्शशून्यया अमन्दानन्दसन्दोहभरितया रसधारया सहृदयहृदयानि समुल्लासयत् कविकुलललामभूतस्य कालिदासस्य अभिज्ञानशकुन्तला-भिधानं नाटकं विजयतेतराम् । तारुण्यस्य प्रसूनं परिणतेश्च फलम्, मर्त्तस्य सौन्दर्यम् स्वर्गस्य च मङ्गलं यदि केनापि एकत्रैव दिदृक्ष्यते तर्हि शाकुन्तलम् तेन विलोकनीयम् इति गेटेमहोदयकृता समालोचना प्रोज्ज्वला दीपशिखेव अभिज्ञानशकुन्तलं प्रोद्भासयति ।

महालयातत्त्वविचारः

राजलक्ष्मी मिश्र, पुरी

गृहस्थेन पञ्चमहायज्ञाः पालनीयाः। तेषां पञ्चमहायज्ञानां विषये मनुना सुविस्तरं प्रतिपादितम्। साधारणतः जनाः वदन्ति यत् मृतपितृमातृप्रभृतीनां मृत्युदिवसमुद्दिश्य प्रतिवर्ष केवलं श्राद्धं भवति। परन्तु धर्मशास्त्रकारादीनां मतानुसारं सांवत्सरिकातिरिक्तमन्येषु केषुचित् दिवसेषु शुभावसरेषु अपि श्राद्धं क्रियते। तच्च पितृभक्तिप्रयुक्तं, शुभमुहूर्ते पितृणां स्मरणनिमित्तं च।

पितृगणानां सन्तोषविधानार्थं बहुविधं श्राद्धं विश्वामित्रादिभिः स्मृतिकारैः यथायथं प्रतिपादितम्। तेषु महालयाश्राद्धमेकम्। तस्मिन् विषये किञ्चत्तत्वमुपस्थाप्यते। महान् + आलयः (निवासः) इति अर्थे महालयाशब्दः निष्पन्नो भवति।

'वेदोपकरणे' इत्यस्यार्थविमर्शः

पं० डा० सदाशिव प्रहराज, सम्बलपुर

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ।। मनुस्मृतिः २.१०५।

उल्लिखिते श्लोके 'वेदोपकरणे' इति पदस्य 'वेदाङ्गे' इत्यर्थो मेधातिथि-सर्वज्ञनारायण-कुलक-राघवानन्द-नन्दन-मणिराम-गोविन्दराज-टीकाकारैः कृतः। काणे महोदयोऽपि एतेषां टीकाकाराणां मतान्यनुसृत्य तमेव वेदाङ्गार्थं स्वीकरोति, परं टीकाकारो रामचन्द्रो 'वेदोपकरणे-उपाकर्मकरणे' इत्यर्थं करोति। एतयोरर्थयोः कतरोऽर्थः समीचीनः तदस्तात् संक्षेपेण विविच्यते।

'वेदोपकरणे' पदेन वेदाङ्गे इत्यर्थो यदि स्वीक्रियते, तर्हि अनध्यायहेतुभिः सार्द्धं षण्णां वेदाङ्गानामध्ययनस्य अध्यापनस्य न कश्चन सम्बन्धोऽस्ति।

शाकुन्तलस्य अभिज्ञानम्—एका आशंका

डा० आकुराति पुन्नाराव, गुण्टूर

विदितचरमेवेदं विदुषां यच्छाकुन्तलस्य अभिज्ञानं महाराजस्य दुष्यन्तस्य अंगुलीयकमिति येन अभिजानाति राजा शकुन्तलां षष्ठाङ्के। प्रसिद्धां परम्परागतामिमा मालोचनासरणिं अस्वीकुर्वन्तः केचन आधुनिकास्तु पण्डिता अपरमेकमभिज्ञानमेवं नवीनं प्रतिपादयन्ति।

महाकविः कालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तलनामके अस्मिन्नाटके शाकुन्तल शब्देन शकुन्तलायाः अपत्यं पुमांसं शाकुन्तलं अर्थात् दौष्यन्तिं भरतमभिप्रेतवान्। तथा अभिज्ञामशब्देन च सः कविरपराजितनाम्नीं ओषधीं उद्दिष्टवान् इति च।

सरस्वती देवस्वरूपम्

श्री लोकनाथ चक्रवर्ती

वेदेषु स्त्रीदेवतानामन्यतमा सरस्वती । सा च द्विविधा नदीरूपा देवीरूपा च यद्यपि एकस्य देव य वहवः रूपाः भवन्ति तथापि अत्र रूपद्वये न तु रूपैक्ये पर्यवसानम् । वाग्देव्याः पृथक्स्तुतिरपि ऋग्वेदे समुपलभ्यते यद्यपि वाक्देव्या सह सरस्वत्या ऐक्यमत्र न स्फुटं परं ब्राह्मणादिषु एनयोरैक्यं सिद्धनस्ति । अत्रायं प्रश्नः या नदीरूपा सा किं नदीरूपैव न देवी अन्यत्र देवीरूपा मातृरूपा वा किं सैव देवी । महाभाग्यात् देवतानां नदीरूपिदेवी भवति, नदीस्तुतिरपि ऋग्वेदे वर्तते (१०/७५) तर्हि नद्याः देवत्वमविसंवादितम् । यदि द्वयोरैक्यं तर्हि पृथक् चिन्तनं निरर्थकं यदि द्वित्वं तर्हि देवस्वरूपं पुनः पर्यालोचनीयं च भवति ।

धर्मस्य निर्णयो ज्ञेयो मिथिला व्यवहारतः

इन्द्रनाथ झा

धर्मप्राणभारतवर्षे धर्मविषयकं चिन्तनं प्राचीनकालादेवास्ति प्रचलितम् । शत-संख्यक प्राया धर्मशास्त्रप्रवर्तकास्तेषांस्मृतिग्रन्थाश्चात्र प्रमाणं वर्तन्ते । तत्र सर्वाधिका प्रशस्ता मनुकृतमनुस्मृतिरेवाभवत् इति तु 'मन्वर्थ विपरीतातु या स्मृतिः सा न शस्यत' इति वचनेनैव ज्ञायते । तथापि मनुना यत्कथितं तत्सर्व समीचीन सामयिक मे वास्तीति वक्तुं न शक्यते यतः कालवशा त्सर्वमेवौचित्यपूर्ण न भवति । दृश्यतां याज्ञवल्क्य स्मृतिः— मिथिलादेशोद्भवेन योगीश्वर याज्ञवल्क्येन स्वकीय स्मृतिग्रन्थं निर्माय न केवलं मनुमतमेव प्रत्युत परम्परा-प्रचलित धर्मशास्त्रसम्मतं मतमपि निराकृत्य पूर्णव्यावहारिक-स्तर्कसङ्ग-तस्सामयिकश्च सिद्धान्तः समुपस्थापितः ।

सत्यं रसाद्विशिष्यते

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा

रसा भावाश्रिताः प्रोक्ता भावाश्च विषयाश्रिताः ।
एतदेव जगत्सत्यं सत्यमतोऽतिरिच्यते ॥

रसविवेचनं भावविवेचनाश्रितम् । भावाश्च चित्तवृत्तिविशेषाः । चित्तवृत्तयः पुनः विषयसम्पर्कजन्याः । एते विषया एव लोकसत्यमिति लोकसत्ये यथासम्भवं योगपूर्वकमेव भावानां स्थितिर्न तु स्वतन्त्रतया । अनेन सत्यस्य कश्चन विशेष इत्यायातम् । किञ्च व्यापकत्वदृष्टया भावानामपि लोकसत्येऽन्तर्भावः । अनेन व्यापकत्वदृष्टया सत्यस्य कश्चन विशेषः । किञ्च भावा हृदयतत्त्वससम्बन्धिन इति बुद्धिगताभिः समस्याभिरेषां योगाभावः ।

मेघदूतोपरि नरहरेर्ब्रह्मप्रकाशिका : एको वक्रः पन्थाः

ब्रजसुन्दर मिश्र, भुवनेश्वर

महाकवेः कालिदासस्य मेघदूतस्य संस्कृत-संस्कृतेतरकाव्यसाम्राज्ये प्रतिपत्तिर-द्वितीया। केचन तस्य पादान्तं गृहीत्वा समस्यापूर्त्यर्थं जैनतत्त्वस्य निष्कर्ष काव्यामाध्यमेन प्रदर्शयन्ति। केचन शृंगारस्यानुपमकाव्यत्वेन तस्य व्याख्यानं कुर्वन्ति। परंतु टीकाकारेषु विलक्षणो महामहोपाध्यायः पण्डितो नरहरिः। सः अष्टदशशतके उत्कलप्रदेशस्य गंजाम-मण्डलान्तर्गतस्य खजुरिआ इति ग्रामस्य वास्तव्यः आसीत्। कविसमालोचनपरम्परायां मेघदूतोपरि तस्य ब्रह्मप्रकाशिका-टीकापि विलक्षणा।

ब्रह्मप्रकाशिका-टीकायां तेन प्रमाणीकृत यत् पुरी-नगरे विराजमानस्य श्रीजगन्नाथ-देवस्य रथयात्रोत्सववर्णनं तावत् मेघदूतस्य वर्णितविषयः, न तु यक्ष-मेघ-संवादः।

शिशुपालवधकाव्ये श्रीकृष्णः प्रतिनायको न वा

डा० विष्णुपददत्त

कृष + नक् प्रत्ययेन कृष्णशब्दः जातः। 'कृष्' धातोरर्थः कषर्णम्। अतः कृष्णशब्दो-ऽस्माकं चिन्ताशक्तिं कर्षयति इति निष्कर्षः। वेदोपनिषदः कालात् अधुनापि भिन्ने साहित्ये कृष्णशब्दः एव बहुधा आलोचिताः। आभिधानिके अर्थे पुलिङ्ग कृष्णशब्देन वासुदेवः, व्यासः, अर्जुनः, कोकिलः, काकः, नीलवर्णः प्रभृतयः दर्शिताः। प्राकृतभाषायां कृष्णशब्दस्य 'कन्ह' इति रूपं जातम्। भवतु शिशुपालवधे तस्य अवतारभेदाः बहुधा प्रदर्शिताः। अव-तारभेदहेतोः वहुविधं कार्यं तेन कृतम्। योद्धृरूपेन, प्रेमिकरूपेन श्रीकृष्णः शिशुपालवधे वहुधा उपस्थापितः। प्रवन्धेऽस्मिन् चेदिराज शिशुपालस्य निधनात् प्राक् ये तावत् नृपाः तथा मन्त्रकाः कृष्णपक्षे आसन्, ये तावत् नृपा तथा मन्त्रकाश्च शिशुपालपक्षे आसन् तेषां विस्तृतं वर्णनं प्रदत्तम्।

संस्कृतव्याकरणे कालस्वरूपविमर्शः

डा० वीरेन्द्रकुमार विद्यालंकार, कुरुक्षेत्र

यद्यपि भारतीयदर्शनेषु कालस्वरूपं विशदं विमृष्टं, तथापि संस्कृतव्याकरणस्या-ऽऽचार्यत्रयेण न क्वापि कालस्वरूपविमर्शः कृतस्तस्मात्पाणिनीयं व्याकरणमकालकमित्युच्यते— 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्' (काशिका–२.४.२१)। कालशब्दः 'कल'—धातो-र्निष्पद्यते। कलधातुरनेकार्थः, तस्मात् 'तथा च क्रमिकान् चक्रभ्रमवत् परावर्त्तमानान् भावान् प्रकाशयन् कालयति भूतानीति काल इत्युच्यते' इति हेलाराजः, 'कालः कालयतेर्गति-कर्मण.' इति यास्कः, 'कलयत्यायुः कालः' इति क्षीरस्वामी, 'कालोऽस्य. कलनात्मकः' इति गीता, लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः' इति च सूर्य सिद्धान्ते निरूपितम्।

दक्षिणपूर्व-एशियाक्षेत्रस्य त्रिषुदेशेषु वैदिक यज्ञ संस्थायाः प्रभावः

डा० जगन्नाथ गुरागाईं, टोंक

वैदिकी यज्ञसंस्था नाम भारतीयायाः संस्कृतेर्मूलतत्त्वभूता । वैक्रमीयवर्षस्य प्रारम्भादपि बहुपूर्वं समुद्भूतेयं कर्मपरम्परा भारतीयजनानां महोत्कर्षं सावयन्ती विविध-शाखाविशेषान् स्वस्मिन् धारयन्ती च शास्त्रीयवाङ्मयप्रवाहैः संवर्धितेदंकालेऽपि लोके परिदृश्यत एव साथीयसी ।

तत्रेमे यज्ञास्त्रैविध्येन वर्गीकृताः, पाकयज्ञसंस्थाः हविर्यज्ञसंस्थाः सोमयज्ञसंस्थाश्च प्रत्येकं सप्त इति ।

एको रसः शान्त एव

डा० प्रभुनाथ द्विवेदी, वाराणसी

प्राचीनकालादेव मूलरसविषयणी विचारसरणिः प्रसरत्येव । श्रुतयः कथयन्ति — 'रसो वै सः । आनन्दो वै सः' । अत्र स इति पदं ब्रह्मबोधकम् । यतो ह्येकमेव ब्रह्म न द्वितीयमतो रसोऽपि भाव्यः एक एव । यद्यपि नाट्ये काव्ये चाष्टसंख्यका नवसंख्यकाः ततोऽप्यधिसंख्यका रसा उल्लिखिताः सन्ति किन्त्वस्त्यत्राचार्याणां मतवैभिन्न्यम् । केचन चत्वार एव मूलरसाः केचित्तु मूलरस एक एव । उत्तररामचरिते महाकविभवभूतिः करुणमेव, शृंगारप्रकाशे भोजराजः शृंगारमेवैकमेव रसं स्वीकरोति । अपि च नारायणा-चार्येणाप्यद्भुतरस एव एको रसः स्वीकृतः ।

समासोक्ति-समीक्षा

डा० सीतानाथ आचार्य्यः, कलकत्ता

विविधानां कवीनां कृतिषु बहुल्येन सञ्चरद्रूपा तथा बहुभिरेव काव्यतत्त्वसमीक्षकैः स्वेषु स्वेषु ग्रन्थेषु समीक्षिता समासोक्तिस्तावदर्थालंकारेषु विशिष्टमेकं स्थानमलंकरोति । परन्तु अलंकारस्यास्य स्वरूपाश्रयो विकाशक्रमो नितरां समाकर्षकः कौतूहलोद्दीपकश्च । प्राचीनानां भामहादीनां ग्रन्थेषु प्रप्यमाणमेतदीयं स्वरूपं न विस्पष्टां प्रतीतिं गाहते न वेतरालंकारविलक्षणतां भजते । तथाहि भामहदण्डिवामनरुद्रटादीनामलंकारनिबन्धेषु लक्षणोदाहरणाभ्यां प्रकाशमानमेतदीयं स्वरूपं क्वचिदप्रस्तुतप्रशंसास्वरूपावगाहि क्वचिद्-वातिशयोक्तिच्छायावलम्बि । अतश्च कुन्तकेन समासोक्तेः पृथगलंकारत्वं निराकुर्वतोक्तम्—

समासोक्तिः सहोक्तिश्च नालंकारतया मता ।
अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया तथा ॥ (व. जी. ३/५१)

वर्णसमाम्नायस्य चतुर्दश-सूत्राणां : दार्शनिक-पक्षः

डा० उपेन्द्र पाण्डेय, वनस्थली

वर्णानामानुपूर्वी-सन्निवेश-विशेषरूपो वर्णसमाम्नायः पाणिनीय-व्याकरणे न केवलं प्रत्याहारमाध्यमेन शास्त्रप्रवृत्तेः प्रयोजकः, अपि तु चतुर्दश-सूत्ररूपेण दार्शनिक-पक्षस्यापि द्योतको वर्तते । यतोहि सनकादीनां सिद्धपुरुषाणामुद्धारकामनया शिवः ढक्कां निनाद । ढक्कावादनमानन्दस्य प्रतीकमस्ति, आनन्दादेव सृष्टि र्भवति । ज्ञानमाशुतोषशंकरप्रसादात् शीघ्रं प्राप्नोति । ज्ञानं शब्दानुविद्धं विद्यते, शब्दं विना किमपि ज्ञानमसम्भवम् । अतो वर्णमाध्यमेन तत्वानामुपदेशस्तेषां ढक्कावादनस्य परमं लक्ष्यमासीत् । नन्दिकेश्वरेण शैवागमस्य सांख्यदर्शनस्य चानुसारं स्वकारिकामाध्यमेन चतुर्दशसूत्राणां रहस्यं प्रस्तुतम् ।

दशावतारस्तोत्रम् अवतारवादश्च

डा० अमलधारी सिंह तथा कु० प्रमिलारानी गुप्ता, लालगंज

विश्ववाङ्मयेषु संस्कृतसाहित्यं प्राचीनतमं प्रशस्ततमं समृद्धतमं विद्यते । अत्रापि विद्यते प्राथम्यं स्तोत्रसाहित्यस्य । वाङ्मयेषु प्राचीनतमः ऋग्वेदस्तु स्तोत्ररूपः । ऋक्शब्दस्य त्वर्थः स्तुतिरेव । ऋक् अर्चनी अर्च्यते पूज्यतेऽनया देवविशेषः ऋचन्ति स्तुवन्ति, ऋचां स्तुतीनां वेदः ऋग्वेदः । 'अग्निमीले पुरोहितम्' इति स्तोत्रेणैव संस्कृत-साहित्यस्य प्रारम्भः । अग्नीन्द्रवरुणविष्णुबृहस्पतिसवितृरूद्रमरूदश्विनादिदेवस्तुतीनां सुन्दरं संकलनमत्र । एवमुत्तरकालीनसाहित्येषु स्तोत्राणां प्राचुर्यं महत्वपूर्णं स्थानं विद्यते । गीतिकाव्यस्य विकासस्तु स्तोत्ररूपेण चाभवत् । अभीष्टफलप्राप्त्यर्थम् इष्टदेवान् प्रति रागात्मककोमलश्रद्धाभावाः प्रकाशिताः ।

कालिदासकाव्ये दार्शनिकतत्त्वम्—किञ्चिन्निदर्शनम्

डा० कालिकादत्त झा, दरभंगा

महाकवेः कालिदासस्य काव्यमाधुरी सर्वातिशायिनी । एतेषां महानुभावानां समुपलभ्यमानाः सर्वाः कृतयः नूनं परमरमणीयां काव्यकोटिम् आवहन्ति । परन्तु मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः स्वभावतः मननशीलः तत्रापि 'कविर्मनीषि परिभूः स्वयंभूः' अथवा 'कवयः क्रान्तद्रष्टारः' इत्युक्तिः प्रमाणयति यत् महाकविः महान् विचारकोऽपि भवति । काव्ये निसर्गत एव कवेः चिन्तनं दर्शनं वा प्रतिबिम्बितं भवति । संहिताकाला-दारभ्याद्यपर्यन्तं विकसितस्य दर्शनद्रुमस्य वैदिकावैदिकोभयशाखायां निरूपितैः दर्शनसमवायैः भारतीयजीवनम् आमूलम् अनुप्राणितं तिष्ठति । काव्यमपि जीवनमेव आधारीकरोति । फलतः काव्ये दार्शनिकतत्त्वानां निवेशः स्वाभाविक एव ।

सुबन्धोः वासवदत्ता—तस्याः कथा कवेरेव वाक्येषु

बच्चन उपाध्याय, इलाहाबाद

महाकवि सुबन्धु विरचिता वासवदत्तायाः कथा प्रत्यक्षर श्लेषमयी इति कविना स्वेनैव गीतम् । वैदर्भीरीति संवलितायां अस्यां वासवदत्तायां कथा तु जटिला श्लेषेण आक्रान्ता विलोक्यते । तथा सा एव कथा कवेरेव सरलवाक्येषु उपग्रन्थितुं शक्यते । यथा—

अभूदपूर्वः राजाचिन्तामणिनमि । तस्य च पारिजात इवाश्रितनन्दनः तनयोऽभूत्कन्दर्पकेतुनमि । येन च सन्तः—परामृद्धिमवापुः । यस्य च वनिताजनस्य हृदयमुल्ललास । यस्मै विलसद्वयस्तरुण्यः स्पृहयाञ्चक्रुः यस्य च स्थैर्यं प्रतिक्षणमाश्चर्यमासादितम् । यस्य च मुक्ताहारैः पयोधरपरिसरोमुक्तः । यस्य च खङ्गो रराज । अथ स कदाचिदवसन्नायां यामवत्यां अापादशवर्षदेशीया कन्यामपश्यत् स्वप्ने ।

उत्तमब्रह्मविद्या

वाडपल्लि श्रीनिवासदीक्षितः

'ये नखाः ते वैखानसाः' इति श्रुत्युक्तदिशा नारायण तनूद्भवोविखनाः सूत्रकाले एव श्रौतगृह्यात्मकं निखिलमपि कर्म जातं विष्णुपरत्वेन प्रत्यपादयत् । अतस्तदनुयायिष्वेव वैष्वव शब्दः सुप्रयुक्तस्य नू सार्थकोभवति यथा वासुदेवानु यायिषुवासुदेव शब्दः । भगवदाराधनस्यापि यज्ञरूपत्वं प्रकल्प्य, पूर्वोत्तरवेदान्तयोस्सवीनुकूलं समन्वयं विधाय च धार्मिकविप्लववादित्वमभजत मुनिर्विखनाः । तच्छिष्याः भृग्वादयश्च गृहे देवतायतने च भगवदाराधनोपयुक्तानं शानागमरूपेणानुमृद्य 'श्रीशास्त्रं' शाखोपशाखं विस्तारयामासुः । तदनुयायिनस्सर्वेऽपि भगवत्सायुज्यस्याराधन मेव परमोपाय इति निश्चिन्वन्ति ।

पाणिनीयव्याकरणे ज्ञापकसिद्धवचनानि

डा० बसन्तकुमार म. भट्ट, अहमदाबाद

पाणिनेः व्याकरणसूत्राणां स्वल्पाक्षरत्वमनवद्यत्वञ्च प्रसिद्धम् । भाष्यकारः पतञ्जलिः शंसति—सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यादिति । अतः कस्मिन्नपि सूत्रे पाणिनिः लाघवं परित्यज्य गौरवमाश्रयति तदा तस्य गौरवस्य गूढाशयो गवेषणीयो भवति । एवञ्च स्थूलदृष्ट्या यदि कस्यचित् सूत्रस्य किमपि पदमनर्थकं प्रतिभाति, यद्वा विरोधाभासमावहति तदा 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीये' त्यभियुक्तोक्तिरेवानुसरणीया । अत्र भाष्यकारादिभिर्ये तर्कप्रचोदिताः प्रयत्नाः पुरस्कृताः तेभ्य एव ज्ञापकसिद्धवचनानामाविर्भावो दरीदृश्यते ।

शोधपत्रेऽस्मिन् ज्ञापकसिद्धवचनानामुदाहरणानि प्रदर्श्य, ज्ञापककल्पनस्य किं बीजमिति निरीक्ष्यते . समीक्ष्यते च ज्ञापकचर्चायां सन्निविष्टानि चत्वार्यङ्गानि ।

धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः समन्वयः

डा० अमलधारी सिंह, डा० प्रतिमा रस्तोगी, लालगंज

भारतीयदर्शनसम्प्रदायेषु समन्वयसंस्थापकाः सन्त्याचार्यविज्ञानभिक्षुमहाभागाः । एषां मते दर्शनेषु समन्वयो विद्यते न मतभेदः । सागरोपमं योगदर्शनं तु परिपूर्णदर्शनं विद्यते । यथा गङ्गाद्यानद्यः सागरमभिगच्छन्ति तस्मिन् समाहिता भवन्ति, एवमेव सर्वा दर्शन-रुणिण्यो नद्यो योगसागरं प्रति गच्छन्ति तस्मिन्नेव समाहिता भवन्ति । 'सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः' इत्यपि वचनम् । एवं दर्शनेषु समन्वयो विद्यते ।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रव्याख्याने त आचार्या धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः समन्वयं स्थापयन्ति । परमपुरुषार्थसिद्धौ यथा ब्रह्मज्ञानमपेक्षितं तथैव धर्मज्ञानमपि । ब्रह्मज्ञानं तु धर्मरूपेण मीमांसितमस्ति ।

संस्कृतसाहित्ये स्वप्नः

डा० जयश्री चट्टोपाध्याय, कलकत्ता

स्वप्नदृष्टं वस्तु न सत्, नाप्यसत्, किन्तु सदसद्भ्यामुभययाऽनिर्वाच्यं मिथ्यैवेति वेदान्तिकदार्शनिकानामसं सिद्धान्तः । परं संस्कृतसाहित्ये स्वप्नो नवितयो जायते । सत्यरूपेणैवास्य प्रतिष्ठा आदिकाल्यात् काव्यान्तरे संक्रामति । अनागतस्य भाविनः सूचना स्वाप्नमार्गेणावतरति रामायणे, कथा ख्यायिकाकाव्यनाटकादिष्वपि रतिशोकादीनामुद्दीप-नविभावः स्वप्नः स्वयम्प्रभो नवरसरुचिरः सन् स्वादवैचित्र्यं जनयति । रामायणे भयानकः रसः भरतस्य स्वप्ने प्रत्यक्षायमाणश्चित्तमवशीभूतं जनयति । स्वाप्नेन भयङ्करं भवितव्यं सूचयन्नादिकवेरनुवर्त्ती एवाभवद्बाणभट्टो हर्षचरिते ।

महाभारतकथायाम् व्युत्पत्तिचिन्तनम्

डा० तोयनिधि वैष्णव, शहडोल

व्याकरणशास्त्रं शब्दशास्त्रमित्यपरनामधेयेन मन्यन्ते सुधिभिः तत्र तु प्रकृतिप्रत्यय-मात्र विवेचन पुरस्सरं विशालशब्दराशिनाम् व्युत्पत्तिः परिलक्ष्यते, एवञ्च व्याकरणग्रन्थैः साधुरसाधुशब्दानाम् सम्यग्बोधः जायते । शब्दार्थविवेचन प्राकारः किमु व्याकरणस्य विषयः उताहो अन्यत्रऽपि संभाव्यते ? इत्येवं संलक्ष्यीकृत्यमहाकाव्यगत शब्दार्थविवेचनमान्विष्यन् लघुशोधपत्रोऽस्मिन् प्रस्तूयते येनेदं ज्ञातुं शक्यते यत् महाभारताख्यानेऽपि परसहस्रशब्दाः वर्तन्ते यैरर्थोद्घाटनम् अर्थवैचित्र्यञ्च जनयति ग्रन्थकारः यथा पृथुशब्दं विवेचयन् आहः— द्रोण पर्व ६६/२ ।

यत्नतः प्रथितेत्युचुः सर्वानभिभवन् पृथुः ।
प्रथिता धनतश्चेयं पृथिवी साधुभिः स्मृताः ।। शां. पर्व ५६/१२८

ब्राह्मणग्रन्थेषु नैतिकाचारः

डा० बलवीर आचार्य, रोहतक

वैदिकवाङ्मयस्य सुविशालसाहित्ये ब्राह्मणग्रन्थानां महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति । यद्यपि निखिलेष्वपि ब्राह्मणग्रन्थेषु याज्ञिकप्रक्रियापोषकतत्त्वानामेव विवेचना आद्योपान्तं चकास्ति, पुनरपि वर्ण्यविषयेषु वैदिकसंस्कृतिस्तु स्वाभाविकरूपेणैव तत्र सन्निविष्टा। तेषु तेषु याज्ञिक-वर्ण्यविषयेषु-अनुपदमाचारव्यवहाराणां वर्णनमपि ब्राह्मणसाहित्ये प्राप्यते । तत्कालीनः समाजः पूर्णरूपेण आचारवानासीत् । विविधानां यज्ञानां सम्पादनं बाह्याचरणं भवन्नप्यान्तरिकाचरणे पूर्णरूपेण अवलम्बित आसीत् । यज्ञानां साफल्यमान्तरिकशुद्धाचरणे निहितमासीत् । यज्ञसम्पादनकाल पापाचरणेन, दुराचारेण, अनृतभाषणेन च यज्ञो निष्फलो भवति स्म ।

गुणरीतिवृत्तीनां मिथः सम्बन्धविमर्शः

डा० हरेकृष्ण शतपथी, पुरी

काव्ये सन्निवेशितानां गुण-रीति-वृत्तीनां पारस्परिकसम्बन्धविषये आलङ्कारिकाणां मध्ये महान् मतभेदः दृश्यते । यद्यपि कोचित् 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' इति उक्त्वा रीतिगुणयोः काव्यस्य उत्कर्षहेतुत्वमुपस्थापयन्ति । केचित्तु गुणस्य काव्यलक्षणहेतुत्वेन प्रतिपादयन्ति । यथा - काव्यप्रकाशकारः मम्मटः । अन्ये तु गुणस्य तादृक्-प्राधान्यं नाङ्गीकृत्य 'रीतिरेव-काव्यस्य आत्मा' इति उपस्थापयन्ति । किन्तु काचित् रीतिः कमपि गुणं प्रविहाय तिष्ठति किम् ? न । काचित् रीतिः समस्तगुणयुक्ताः अन्यास्तु असमस्तगुणयुक्ताः । किं समस्तगुणयुक्ता रीतिः काव्यस्य आत्मा आहोस्वित् असमस्तगुणयुक्ता रीतिः ? अत्र प्रसङ्गे वामनस्न मतमपि खण्ड्यते ।

गुणीभूतालोकः

डा. गोपराजू रामा, इलाहाबाद

यथा ध्वन्यालोकः तथा गुणी भूतालोकः । ध्वन्यालोके ध्वनिकारेण ध्वनेः विचारः यथा कृतः तथैव समानान्तररूपेण गुणी भूतव्यंग्यस्यापि विचारः कृतः तेन । तादृश विचार-परम्परायाः एकत्र समावेशे सति यथा ध्वन्यालोकः तथा गुणीभूतालोकोऽपि संगच्छते ।

तत्र गुणी भूतव्यंग्यमधिकृत्य ध्वनिकारस्य विचारेषु अन्यतमाः इमे सन्ति । तथाहि । १. गुणी भूतव्यंग्यः ध्वनेः आभासरूप ध्वनिनिस्पन्दरूपश्च । २. रसवदलङ्काराः ध्वनिकारेणैव निगदिताः । अन्येन केनापि आलङ्कारिकेण ते न निगदिता; परन्तु अपरांगव्यंग्यगुणीभूतव्यंग्यप्रभेदेतैः अन्तर्भाविताः । ३. गुणीभूतव्यंग्यप्रभेदानां 'नामकरण'ध्वनिकारेण न कृतम् ।.........

अविद्यानिवृत्ति–विमर्शः

डा० सत्यदेव मिश्र, पिलानी

शाङ्कराद्वैतवादे नित्यनिरतिशयपरमानन्दरूपब्रह्मप्राप्तिरेव चरमः पुरुषार्थः, तदवश्यम्पूर्वभावितया अविद्यानिवृत्तिरपि तथा। तत्र शङ्केयमुदेति अविद्यानिवृत्तिः किमात्मरूपा, तद्भिन्ना वा। प्रथमे कल्पे आत्मनो नित्यसिद्धत्वात्तदवाप्तिसाधनवैफल्यम्। चरमकल्पे किमियं सती असती वा। अत्रापि पूर्वकल्पे अद्वैतसिद्धान्तव्याकोपो ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्य द्वितीयपरमार्थसतोऽनभ्युपगमात्। द्वितीय कल्पे पूर्वोक्तप्रयाससाधनवैफल्य-दोषतादवस्थ्यम्। शङ्करमण्डनसुरेश्वरप्रभृतिभिः अद्वैताचार्यैः प्रश्नस्यास्य समाधानानि स्वमतानुसारेण बहुधा विहितानि। तानि कालक्रमानुसारेण अस्मिन् शोधपत्रे विव्रियन्ते।

श्रीरामस्य वनयात्रामार्गः

डा० कृष्णनारायण पाण्डेय, पणजी

महर्षिवाल्मीकिरचितरामायणे श्री रामचंद्रस्य वनवास–स्थलानां स्थिति संकेताः वर्णिताः। चित्रकूटपर्यन्तं वनयात्रामार्गः रामायणस्य वर्णनानुसारं निर्धारितः वर्तते। चित्रकूटतः पंचवटीनासिकक्षेत्रं गोदावरीनदीतटे मन्दाकिनी-नद्याः उद्गम दिशायां दक्षिण पश्चिमे आसीत्। अस्मिन क्षेत्रे रामायण सम्बद्ध तीर्थस्थलानि, दमोह समीपे सीतानगरम् ओंकारेश्वर–समीपस्था सीतावाटिका, रामटेक–पर्वतः 'उनाई' 'ऊन-केश्वर' स्थलद्वय शरभंगाश्रमः सन्ति। पंचवटीतः किष्किन्धामार्गः कृष्णानदीतटे स्थित वाई तीर्थस्थलतः गच्छति। पर्वतीय क्षेत्रे वनप्रदेशे वा सर्वत्र मार्गः जलप्रवाहम् अनुसरति।

"मन्त्रपुष्प महामन्त्रपुष्पयोः भेदः विशिष्टता च"

डा० के० के० रामा चार्युलु, खम्माम

भगवदाराधने ध्यानावाहनासनार्घ्य–पाद्याचमनीयादयः षोडशोपचारपूजाः तासु एकं मन्त्रपुष्पसमर्पणम् करे पुष्पं अथवा तुलसी दलं गृहीत्वा मन्त्रं पठित्वा तदनन्तरम् भगवतः चरणसन्निधौ तत् समर्पणमेव मन्त्रपुष्पमिति वक्तुं शक्यते। "सहस्रशीर्ष देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम्" इत्यनुवाकः (तैत्तिरीयोपनिषदि नारायणप्रश्ने त्रयोदशानुवाकः) मन्त्रपुष्पमिति नाम्ना…"योपां पुष्पं वेद पुष्पवान् प्रजावान् पशुमान् भवति" (तैत्तिरीयारण्यके द्वाविंशोनुवाकः) इत्यनुवाकः महामन्त्रपुष्पमिति नाम्ना व्यवह्रियते। मन्त्रपुष्पं (२६) षड्विंशति वाक्यानि सन्ति। तानि सर्वाणि विश्वव्याप्तनारायणं तस्य स्वरूपंतया देहे हृदयपुण्डरीकस्थानं तन्मध्यस्थित परमात्मस्वरूपं वर्णयन्ति।

संस्कृतकाव्येषु श्रीजगन्नाथस्तस्य गुण्डिचा यात्रा च

ब्रजकिशोर नायक, पुरी

भारतवर्षस्य पूर्वस्यां दिशि वङ्गोपसागरस्य तीरे चतुर्षु धामसु पुरुषोत्तमक्षेत्रं श्रीक्षेत्रं वेति नामकं प्रसिद्धं धाम विद्यते। श्रीजगन्नाथः पुरुषोत्तमत्वेन कथितत्वात् तत्-क्षेत्रस्य नाम पुरुषोत्तमक्षेत्रमिति लोके प्रसिद्धम्। बहुषु शिलालेखेषु तन्त्रग्रन्थेषु काव्यग्रन्थेषु च श्रीजगन्नाथः पुरुषोत्तमत्वेन वर्णितः। न केवलं पुरुषोत्तमत्वेन अपि च दारुब्रह्मत्वेन, कल्पवृक्षत्वेन, शिवत्वेन, रामत्वेन, कृष्णत्वेन चायं बहुधा वर्णितो विद्यते। श्रीजगन्नाथ-मुद्दिश्य प्रायशः उत्कलीयैः कविभिः बहूनि काव्यानि विरचितानि। श्रीजगन्नाथः उत्कलीयानां राष्ट्रदेवताहेतोः कवयस्तं कथमपि न मुञ्चचन्ति।

रसस्य विविधाचार्यपरिभाषाणां समीक्षणम्

आलंकारिकाचार्यप्रवरेण मम्मटेन—

'कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥'
...........स्थायीभावो रसः स्मृतः'। इत्यादिकारिकया विभावादयभिव्यज्यमानरत्यादेः स्थायिभावस्य रसत्वं व्याख्यातम्। कविराज विश्वनाथोऽपि—

'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
...........भास्वादयते रसः' इत्यदिकारिकया आनन्द-चमत्कारमयस्य ब्रह्मास्वादसहोदरस्य वेदयान्तरस्पर्शशून्यस्य विभावादि समूहालम्बनानुभवस्यरसत्वमावेदितम्।

कालिदाससाहित्ये तपस्विनः

डा० रहसबिहारी द्विवेदी, जबलपुर

कालिदाससाहित्ये तपस्यायाः समधिकं महत्त्वं दरीदृश्यते। कालिदासो विश्वसितिवत् तपस्यैवाभीष्टसिद्धौ सर्वोत्तमोपायः। कुमारसंभवे नायिकायाः पार्वत्या वर्णने तथ्यमिदं स प्रकटयति—

'इत्येषु सा कर्तुमबन्ध्यरूतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥' ५/२

तथ्यमिदं नायकस्य शिवस्य कथने फलितमपि दृश्यते—

'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति'। ५/८६

कालिदासस्य 'अथ' प्रयोगः

डा० मिथिलाप्रसाद त्रिपाठी, इन्दौर

महाकवि कालिदासस्य साहित्ये प्रचुरतया अथ पदस्य प्रयोगः प्राप्यते। यद्यपि अर्थशब्दतएवाथ शब्दस्य निष्पत्तिर्जाता परन्तु प्रायशः मांगलिकेऽर्थे अस्य प्रयोगः महाकविना कृतः। शाङ्करभाष्येऽपि 'अर्थान्तर प्रयुक्तः अथशब्दः श्रुत्या मंगल मारधयति अथ निर्वचनम् अथ योगानुशासनम्' इति प्रयोगः लभ्यते। स्वीकृत्यर्थ कल्पनार्थ एवं परन्तु यदि, इत्यादि अर्थानुगमकः प्रयोगः अथ शब्दस्य प्राप्यते कालिदाससाहित्ये। ततः अनन्तरम्, यदि, चेदिति अर्थप्रतिपादकत्वेऽपि प्रयुक्तः, चःर्थे, अनेनैवकारणेनेति अर्थधिया, प्रश्नारंभे, पृच्छायां, सम्पूर्णतायो संदेहविधौ अनिश्चयप्रसङ्गेऽपि कालिदासेन अथशब्दस्य प्रयोगः कृतः।

संस्कृतरुचिजागरणे अरविन्दाममस्य योगदानम्

रमेशकुमार पाण्डेय, उज्जयिनी

भारतदेशे सम्प्रति संस्कृतरुचिजागरणाय याभिः काभिः संस्थाभिः संस्कृतसम्भाषणशिविरं, दशदिवसीयशिक्षकप्रशिक्षणशिविरम्, संस्कृतसम्मेलनं आदि कार्यक्रमाणाम् आयोजनं क्रियते तासु सस्थासु अरविन्दाममस्य योगदानं अतीव महत्त्वपूर्णं वर्तते। अस्य आश्रमस्य श्रीमाता "संस्कृतमेव भारतस्य राष्ट्रभाषा भवेत" इति सन्देशं दत्तवत्ती। श्रीमातृवर्याणां सन्देशेन शताधिकानाम् सम्मेलनानाम् आयोजनं अभवत्। अतः अरविन्द आश्रमस्य योगदानं अभिनन्दनीयमेवम्। एतत् सर्वमेव अस्मिन् शोधपत्रे विस्तरेणः प्रतिपादितं वर्तते।

शाब्देब्रह्मणि पारीणाः पं० रामचन्द्र भट्ट महाभागाः तेषां कर्तृत्वञ्च

डा० गङ्गाधर भट्ट

वैयाकरण केसरी भट्टकुलतिलकः पण्डित रामचन्द्र आचार्यः स्वनामधन्यो मूर्धन्यः संस्कृतविद्वत्कवि पुण्डरीकेष्वन्यतमः। महानुभावस्यामुष्य कतिपयान् गुणरत्न समुच्छ्रयान् विशिष्टान्, प्रगल्भ प्रतिभोत्कर्षप्रकर्षान्, विहिताजीवन संस्कृताभ्युदय महाप्राण प्रयासान्, कर्मठत्वं, साहित्यसाधनाः उद्योगित्वेन सुरभारती समाराधन सद्यत्न रत्न कषण पारगामित्वं, संस्कृतभाषाया अभ्युदयायाहर्निशं विहिता शुभचिन्तनमय्यो विचारधाराः प्रेरणास्पदानध्यव सायान् सहृदयत्वञ्च स्मारं स्मारं श्रद्धाभक्तिभावान् सञ्जनयति संस्कृतानुरागिणो जनस्य। भट्ट महोदया इमे कविशिरोमणयः व्याकरण दर्शन साहित्य पारावार पारीणाः संस्कृत वाङ्मयस्य उद्भटा विद्वान्स आसम्।

कवीन्द्रगंगानन्दस्यभृंगदूतम्

हृषिकेश झा, दरभङ्गा

जनकजाज्ञवल्क्ययो: जन्मभूमि: मिथिला स्वकीयज्ञानगौरवाय प्रागैतिहासिक-कालादेव प्रसिद्धाऽस्ति । सरस्वत्या: क्रीडाकाननेऽस्मिन् अशेषप्रकाराणि पुष्पाणि प्रस्फुटितानि । अत्र पञ्चवर्षेभ्योऽपि अल्पतरावस्थो बालक: राजानं छन्दोबद्धवाप्या उत्तरति तथा तस्मिन्नेवाल्पीयसि वयसि निजसारस्वतसाधनया त्रिलोकवर्णनेऽपि आत्मानं क्षमं मनुने, अथ च कठोरतर्काभ्यासश्रान्तमनो रञ्जयितुम रसार्णवसर्जनेऽपिचतुर: ।

सत्यमिदं यदत्र कवीनाम पेक्षया दार्शनिका: अधिकं समाद्रियन्तेस्म । अत्रत्यै: विद्वद्भि: सरसकविविरचितमधुरगीतगुञ्जित मिथिलाया अपेक्षया मीमांसान्याय-वेदविद्या पारङ्गत पण्डितमण्डली मण्डित मिथिलाउत्कृष्टतरा मन्यतेस्म ।

कवे: कालिदासस्य लक्ष्यम्

श्यामाचरण दाश, उड़ीसा

'धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षणं कलासु च ।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।

इति रसप्रकाशकारेण, 'काव्यं यशसेऽर्थकृते शिवेतररक्षतये सद्य: परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' इति काव्यप्रकाशकारेण काव्यस्य लक्ष्यकारणविषये यदुक्तम् तदेव कविकुलगुरो: कालिदासस्य काव्यरचनासु प्रमाणीकृतमेव । कविकुलगुरो: कालिदासस्य काव्यं सशर्करापय इव सुमधुरं, माहिषं दधि इवास्वादनीयं, एणिमांसमिव पुष्टिकरं, सुकोमलावला इव प्रीतिदायकं, रसायनमिव हितकरञ्च ।

उत्कलीयपुण्यक्षेत्रेषु एकाम्रक्षेत्रस्य वैशिष्ट्यम्

रविचरण रथ, पुरी

उत्कलीयपुण्यक्षेत्रेषु एकाम्रक्षेत्रं सुप्रसिद्धम् । क्षेत्रमिदं पद्मक्षेत्रनाम्ना ख्यातम् । एकाम्रक्षेत्रं न केवलमुत्कले अपितु उत्कलस्य वहिरपि प्रसिद्धिं प्राप्नोति । उत्कलीय पुण्य-क्षेत्रेषु शैव-वैष्णव-शाक्त-गाणपत्य-सौर सम्प्रदायानां समावेश: अनुभूयते । अत्र पञ्चदेवानां पञ्चक्षेत्रमपि विद्यते । अतोऽत्र पञ्चायतनविधिना पूजा भवति इति प्रमाणितं भवति । यत:—'गणे नारायणे रुद्रे अम्बिके-भास्करे तथा' । इति प्रमाणवाक्यादत्र तन्त्रपूजापद्धति: प्रतिविम्बिता भवति । श्रीजगन्नाथपुरी वैष्णवसम्प्रदायस्य, एकाम्रक्षेत्रं शैवसम्प्रदायस्य, विरजाक्षेत्रं शाक्तसम्प्रदायस्य, महाविनायकक्षेत्रं गाणपत्यसम्प्रदायस्य, अर्कक्षेत्रं सौरसम्प्रदायस्य प्रतीक: भवति । एतेषां पञ्चदेवानां सम्मेलनं केवलमुत्कले एव वर्त्तते ।

कुमारसम्भवमहाकाव्ये नायकचित्रणे तात्कालिकसामाजिक स्थितीनां प्रभावाकलनम्

डा० सतीशचन्द्र झा, दरभङ्गा

काव्यकर्म पात्रचरित्रांकनमाहृत्य जीवति इति कथनं नातिशयोक्तिपूर्णं यतो हि मानवीयजीवनसम्वेदनैव कविकर्मणः प्रथमकृत्यभूता, अन्यकृत्यनिवेशस्तु मानवीयजीवन-मूल्यानां स्थापनार्थमेव भवति । अत एव काव्यस्य सर्वविधभेदेषु प्रभेदेषु च पात्रचित्रांकन-मेव सर्वातिशायि महत्त्वं निदधाति । पात्रचरित्रांकने यत्-त्वं सर्वाधिकं मुखरं भवति तद्वर्तते तात्कालिकसामाजिकस्थितीनां प्रभावः । किमपि चरित्रं यत् रचनाकारस्य समयतः सहस्राब्दपूर्वकालिकं पौराणिकम् ऐतिहासिकं वा भवेत् तत् चरित्रं यदा कविना स्वरचना-याम् उपस्थाप्यते तत्र नून समसामयिकसमाजस्य प्रभावः आपतति ।

अपशूद्राधिकरणे शबरशंकरयो र्मतपर्यालोचना

डा ब्रजकिशोर स्वाईं, पुरी

अपशूद्राधिकरण प्रकृत्य प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोरनुष्ठानार्थं पूर्वोत्तरमीमांसयो विचार उपस्थापितः । तत्र शूद्रस्यानुपनीतत्वेन वेदाध्ययनेऽनधिकृततया वेदार्थज्ञानाभावेन च तदर्था-नुष्ठानाय न प्रवृत्तिः शास्त्रीयेति पूर्वमीमांसाविषयमुत्थाप्य उत्तरमीमांसायां तु मोक्षाधि-कारार्थं तज्ज्ञानस्य प्रयोजनत्वात् तच्चाध्ययनविध्यपितित्योपनयनेऽनधिकारात् न शूद्रस्य तत्राधिकारः सिद्ध्यतीति सिद्धान्तितम् । पुराणादिद्वारा ब्रह्मज्ञानसाधनाकाङ्क्षां पूरयित्वा मोक्षाधिकारः शूद्रस्येतिपक्षे उद्भावितेऽपि याज्ञेयविधिविषयाणां पुराणविवरणगोचरत्वान्न तद्द्वारेण यागप्रक्रियाज्ञान संभवति ।

ध्वनिकारमतविषये काव्यप्रकाशकारस्यैकमत्यं वैमत्यञ्च

डा० चन्द्रकिशोर गोस्वामी, वनस्थली

यद्यपि ध्वनिकारस्यानन्दवर्धनस्य सिद्धान्ते समादरपरोऽस्ति मम्मटाचार्यवर्यः, नैकेषु स्थलेषु काव्यप्रकाशे ध्वनिकारवाक्यं प्रमाणरूपेण न केवलं स समुद्धरते, व्यंग्यं काव्यलक्षणे परमं पदमादधानोऽसौ ध्वनिकाव्यमुत्तमं मन्यते, व्यञ्जनावृत्तिं संरम्भेण तर्कप्रकरैः संस्थाप-यति, औचित्यं रसस्योपनिषदमनौचित्यं च रसभंगस्य कारणं स्वीकुर्वाणो मम्मटाचार्यः सामान्यतो रसदोषनिरूपणे ध्वनिकारमेवानुकरोति, क्वचित्तु ध्वनिकारस्यैव तर्कान् तद्भाषां च यथावदनुहरति परं नैतावताऽसौ ध्वनिकारानुकर्त्ता निष्पक्षचिन्तकः काव्यशास्त्रज्ञे मम्मटाचार्य इति वक्तुं शक्यते । अनेकत्रामुना ध्वनिकारमतमस्वीकृत्य खिलीकृत्य च नैजिकं नवीनं मतं प्रस्तुतम्, स्वकीया निष्पक्षचिन्तना शक्तिश्च प्रकाशिता ।

भवभूतेः नामधातुप्रयोगः

डा० कुमारी कुमुद कान्हे, रायपुर

भवभूते. अभिव्यंजनाचातुर्यम् वर्णनकौशलम् च कवीन् अतिशयाते तथैव वाक्-पाटवमपि अस्य परिलक्ष्यते। शब्दानाम् प्रयोगे नान्यः कविः अस्य तुलामधिरोहति। ईदृशि शब्दयोजना सर्वेषां मनांसि चमत्करोति। अतः भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूग्येव भारति भाति। एतत् कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥ इति सत्यमुक्तम्।

नवीनशब्दानां निर्माणे अपि कवेः अपूर्वं कौशलम्। एतादृशि शब्दसमृद्धिः अन्यत्र दुर्लभा।

व्याकरणशास्त्रीयदृष्ट्या धातूनां प्रातिपदिकानाम् च यथाशास्त्रं प्रयोगः कृतः तथापि प्रातिपदिकमूला सुखन्तमूला वा धातवः कवेः किमपि विलक्षणं शब्दनैपुण्यं प्रदर्शयति।

राष्ट्रसंहृतिसंपादने आदिशंकराचार्यस्यावदानम्

जगबन्धु मिश्र

भारतजनन्याः पाददेशे (केरलप्रदेशे) अवतीर्य स्वल्पीयसाऽपकालेन सर्वाणिशास्त्राणि अधीत्य स्वतन्त्रप्रज्ञया अध्यस्तानां निखिलमतवादानाम् अन्योन्यविरोधभावं निराकृत्य सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरे ब्रह्मणि तात्पर्य्यं प्रदर्श्य चतुर्दिक्षु सनातनधर्मरक्षार्थं मठचतुष्टयं संस्थाप्य भारतवर्षस्य संहतिं साधयामास श्रीशंकरभगवद्पादः।

एषः प्रबन्धस्य पर्य्यालोचनाविषयः मुख्यतः निम्नलिखितविषयान् आधारीकृत्य विचारयिस्यते।

(१) अद्वैतदर्शनानुकूल्येन जातिदेशयोः प्रतिष्ठा।

(२) अद्वैतवादप्रचारमाध्यमेन समग्रे विश्वेभारतस्यमाहात्म्यप्रकाशनम्।

(३) वैज्ञानिक-लौकिक-वैदिक-पारमार्थिकदृष्टिभङ्गीनां एकत्वसंपादनपूर्वकं राष्ट्रियसंहृतिं प्रदर्शनम्।

रस–सिद्धान्तः

प्रो० चन्द्रेश्वर झा, दरभङ्गा

अलङ्कारशास्त्रस्य प्राणभूतः रस सिद्धान्तः साहित्यशास्त्रग्रन्थेषु प्राचीनैर्नवीनैश्चाचार्यवर्यैः स्वस्वमतमुपस्थापनपुरस्सरं सम्यक् प्रतिपादितोऽस्ति। अतएव नायमक्षुण्णः काव्यमार्गः। तथापि प्रस्तुतनिबन्धेऽस्मिन् प्रत्नानां नूतनानाञ्चाचार्याणाम् रस सिद्धान्त विषयक मतानां साहित्य दर्शन मनोविज्ञान शास्त्रदृष्ट्या अभिनवरूपेण विशदं समीक्षणमभीप्सितमस्तीति।

धीरप्रशान्तनायकस्तथासमाजः

डा० अन्नपूर्णानन्द, कटक

जगति मानवः सर्वश्रेष्ठप्राणी इति निर्विवादं प्रतिभाति। इतरेभ्योभिन्नस्य तस्य मानवस्य स्वतंत्रः समाजो वरीवर्ती। समाजस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्था नीतय., नियमाश्च मानवान् सुश्रंखलितान् कुर्वन्ति।

समाजस्मिन् सर्वे मानवाः तिष्ठन्ति, परन्तु तेषु नायकगुणभाजाः केचन एव भवन्ति, देशस्य, समाजस्य, परिवारस्य, नायिकायाश्च कृते योहि उपयुक्त योग्यताभाक् स एव नायकपदवाच्यो भवति। लक्षणकारैः चतुर्षु (धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीर-प्रशान्ताख्येषु) नायकेषु धीरप्रशान्तो नामनायकः समाजस्य सत्पथावलम्बनाय नितान्तगरिमान् वर्णितो वर्त्तते। सः परोपकारं सततं करोति।

नायकवत् वर्त्तितव्यम्, न प्रति नायकवत्, इति काव्यफलनिरूपणप्रसंगेन राद्धान्त सिद्धान्ततया धीर-प्रशान्त-नायकः सर्वप्रशस्ततम् उपनीत इति नाविदित प्रेक्षावताम्।

खण्डकाव्येषु यक्षसमागमकाव्यम्

द्वारिकानाथ झा, मधुवनी

संस्कृतखण्डकाव्यपरम्परायां वहुविधाः मार्गाः सन्ति। संस्कृतखण्डकाव्येषु नैतादृशीरचना सौलभ्येनोपलभ्यते। महाकविकालिदासस्य मेघदूते नायकनायिकयोः समागमो नैव दृश्यते, परन्तु महामहोपाध्यायपरमेश्वरशर्मणाविरचित यक्षसमागमकाव्ये नायक-नायिकयोः समागमोपाख्यानं वर्णितमस्ति। इयं विलक्षणता खण्डकाव्येषु क्वचिदेव दरीदृश्यते। अस्येदमपि वैशिष्ट्यमस्ति यद् यथा शैल्या महाकविना कालिदासेन यक्षविरहः वर्णितः तथैव चमत्कारिण्याशैल्या महामहोपाध्यायेन परमेश्वरझाशर्मणा जिज्ञासूनां जिज्ञासाशान्तये यक्षसमागमोऽपि वर्णितः।

पस्पशा शब्दार्थ विचारः

गणपति भट्ट, पुण

'स्पश'—बन्धनस्पर्शनयोरिति भ्वादिः। स्पर्शनं=ग्रन्थनं। स्पश-ग्रहण संश्लेषणयोरिति चुरादिः। आद्ये बन्धनं विषय बन्धनं, स्पर्शनं=ग्रथनं विषयप्रतिपादनं इति धातोरर्थः। द्वितीये ग्रहणं=पदार्थस्य स्वीकारः। संश्लेषणं—विषयानां समावेशनम्। उभययपि स्पश-धातोः विषयप्रतिपादकत्वमित्यर्थः सिध्यति।

"पस्पशा"=पुनः पुनः अतिशयेन विषय प्रतिपादनं पदार्थ संग्रहणमिति पस्पशा शब्दस्य विचारः। शास्त्रारम्भसमर्थन पर ग्रन्थ विशेषः "उपोद्घात" रूपः।

सहस्रनामस्तोत्रेषु ललितासहस्रनाम स्तोत्रस्य स्थानं

चन्द्रकान्त मुसलगांवकर

तन्त्र साहित्ये बहूनि स्तोत्राणि सन्ति । तेषु कानिचिद्देवानां स्तोत्राणि कानिचिद् देवीनां स्तोत्राणि वर्तन्ते । तेषु देवीस्तोत्रेष्वपि दशविध देवीसहस्रनामस्तोत्राणि मुख्यानि । तानि च भवानि, गायत्री, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, राजराजेश्वरी, श्यामला, दुर्गासहस्र-नाम (वगला), भुवनेश्वरी, ललिता सहस्रनाम स्तोत्राणि । एषु दशस्वपि सहस्रनाम स्तोत्रेषु ललितासहस्रनाम स्तोत्रं मुख्यम् । अत एव ललितासहस्रनाम स्तोत्रं तन्त्रमार्गे-ऽतीव महत्त्वपूर्णं स्थानं भजते ।

बहुभिरूपासकैः तन्त्रसाधनमार्गे साधनी कृतमिदं स्तोत्रम् । दक्षिणभारतेऽनेके विद्वांसः साधकाश्च अस्य स्तोत्रस्य नित्यपाठं कुर्वन्ति ।

पितृसंवत्सरान्तःपाति-मातृसांवत्सरिकानुष्ठानविचारः

डा० जयकृष्ण मिश्र

आयुःप्रजाद्यैहिकफललाभाय, स्वर्गादिपारलौकिकफललाभाय सर्वोपरि मोक्षलाभाय च पितृयज्ञो धर्मशास्त्रेषु विहितः । स च पितृयज्ञः श्राद्धनाम्ना प्रसिद्धः । पुत्रैः क्रियमाणं श्राद्धकर्म पितृणामस्तित्वप्रयुक्त भक्तिप्रयुक्तं च । तत्र च नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन श्राद्धं बहुविधं शास्त्रकारैः प्रतिपादितम् । सांवत्सरिकश्राद्धं नैमित्तिकान्तर्गतम् । सन्दर्भेऽस्मिन् प्रथमसांवत्सरिकस्यानुष्ठानकालः विचार्यते ।

सांवत्सरिकं श्राद्धं प्रतिसवत्सरं मृततिथौ एव क्रियते । प्रथमसावत्सरिकमपि तथैव द्वादशमासानन्तरमधिमासं सन्त्यज्य मृततिथौ एव पाल्यते । द्वादशमासेऽधिमासपाते शुद्धमासि एव कर्त्तव्यम् ।

विद्यापतिमहाकविः तदीया पुरुषपरीक्षा च

श्रवणकुमार लोधा

प्राचीनभारते नीतिशास्त्रस्योपदेशप्रणाली–कथाप्रसङ्गेन प्रचलिता आसीत् । पञ्चतन्त्रम्—हितोपदेशः —जातकमाला—बौद्धावदानमाला–इत्यादिक्रमेण विभिन्न–उपदेश-पराः ग्रन्था सन्ति । तेष्वेव-विद्यापतिमहाकवेः पुरुषपरीक्षापि–नीतिशास्त्रस्य–विशेषतो व्यावहारिक क्षेत्रीय विभिन्न कोटिघटकी भूतस्य विशेषेण ज्ञानाय सदवशिष्यते । पाटलिपुत्र-स्य राजकुमार कथापि–विशाखदत्तस्यकथया ऐतिहासिकतत्त्व ज्ञानेन सह स्मियोऽवि-श्वसनीयतामभिव्यञ्जयति । अत एव निबन्धेऽस्मिन्–प्रमाणपुरः सरं नीतिग्रन्थेषु-पुरुष परीक्षायाः स्थानं मया निरूपितम् । आधुनिकजीवने लोकव्यवहारज्ञानाय–कियानस्योपयोगः स्याहितिविषये—न किमपि वक्तुमुचितमवशिष्यते ।

उत्तररामचरिते शिक्षामनोविज्ञानतत्त्वानां परिशीलनम्

वसन्तकुमार मिश्र, पुरी

साम्प्रतिको युगः बुद्धिवादी। मानवस्य सर्वोऽपि सिद्धान्तः कार्यकारणशृङ्खलया बद्धः। सामाजिक-राजनैतिक-धार्मिक-नैतिक-मनोवैज्ञानिकविषयाणां मीमांसा वैज्ञानिकविधिना संस्क्रियते। मानवस्य मानसिक-शारीरिकश्च व्यापारः विज्ञानपद्धत्या निरीक्ष्यते परीक्ष्यते समाधीयते च।

मानवव्यवहाराध्ययनरूपस्य शास्त्रस्यास्य मनोविज्ञानस्योपलब्धिः पौरस्त्यपाश्चात्यनाट्यकृतिषु सूक्ष्माविरलगत्याऽवलोक्यते। तत्र पाश्चात्यनाट्यकाराणां पूर्वमपि भारतीयनाट्यपद्धतौ मनोवैज्ञानिकस्रोतः भास-कालिदास-भवभूत्यादिविरचितेषु नाटकेषु स्पष्टमवभासते।

'भाणश्चतुर्भाणी च'

आचार्य डा० वनेश्वर पाठक, राँची

(१) रूपकेषु भाणस्य स्थानम्।
(२) भाणस्य शास्त्रीयं वैशिष्ट्यम्।
(३) भाणरचनायाः पारम्परिकत्वम्।
(४) भाणेषु चतुर्भाण्याः स्थानम्।
(५) चतुर्भाण्याः संक्षिप्तः परिचयः।
(६) भाणस्य शास्त्रीयं वैशिष्ट्यमधिकृत्य चतुर्भाण्याः समीक्षणम्।
(७) निष्कर्षः।

रामणीयक-सम्प्रदायः—पण्डितराजस्याभिनवः काव्यसम्प्रदायः

शङ्करजी झा, दरभंगा

यथा खलु रसवादिनो रससत्तां ध्वनिवादिनश्च वस्त्वलङ्काररसरूपत्रिविधव्यङ्ग्यान्यतमसत्तामावश्यकीम्मन्वते काव्यत्वव्यपदेशाय न तथा पण्डितराजो जगन्नाथः। केवलं वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यान्यतमरमणीयमर्थं काव्यात्मानं मन्वानेनानेन स्वकीयकाव्यलक्षणे व्यञ्जकपदमनुपादाय वाचकादित्रितयसङ्ग्रहार्थं "प्रतिपादकमिति पद सामान्येनोपात्तम्। उपमानिरूपणावसरे रसगङ्गाधरे व्यङ्ग्येन सहे वाच्यार्थविशेषस्याप्यलङ्कार्यत्वेन प्रतिपादितत्वात् सिद्ध्यति पदरमणीयव्यङ्ग्यस्थलेऽपि रमणीयवाच्यसत्त्वे काव्यत्वमिष्टं पण्डितराजस्य। नापि चायं रसवादी विश्वनाथसदृशः, यतो ह्यसौ रसमात्रं (असंलक्ष्यक्रमध्वनिं) काव्यात्मान नो मनुते।

जगन्नाथः वैदिक देवता न वा

अमलरंजन मुखोपाध्याय

यद्यपि सनातन शास्त्रेषु जगन्नाथः देवरूपेण वर्णितः तथापि वैदेशिकपण्डिताः जगन्नाथं वौद्धकालात् परं तथा वौद्ध आदर्शेन प्रभावित इत्युच्यन्ते। तेषां नये जगन्नाथ-वलराम-सुभद्राया यथार्थरूपं हि वुद्ध-धर्म-संघाश्चेति। अपि च जगन्नाथ अनार्याणां देवतासीत् कालप्रभावेन तदार्थदेवत्वंगतः इत्यादि पूर्वपक्षीणां नास्तिकं मतं वेद-पुराणान्तर्गतेषु प्रमाणेष्वस्वीक्रियते इस्मिन् प्रवन्धे॥

ऋग्वेदे पापपुण्ययोर्विमर्शः

डा० कन्हैयालाल पाराशर, होशियारपुर

संसारस्य सर्वेऽपि धर्मग्रन्थाः महापुरुषाः दार्शनिकाः अन्ये च विद्वांसः पापकर्मणां निषेधं पुण्यकर्मणां च विधानं कृतवन्तः। यथा धर्मविषये "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" इति कथ्यते तथैव "पापपुण्ययोस्तत्त्वं निहितं गुहायाम्" इत्यपि कथयितुं शक्यते। श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्ण महाराजैरपि कथितमस्ति "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" इति। यदा कस्मिन्नपि विषये सन्देहो जायते तदा तत्समाधानाय नास्ति भारतीये समाजे वैदिकसाहित्यात्परं प्रमाणम्। कर्मणा पापपुण्यविषयिका या समस्या तस्याः समाधानाय ऋग्वेदात् प्रमाणानां संकलनस्य तेषां विवेचनस्य च महती आवश्यकता वर्तते। यतो हि, भारतीयस्य समाजस्य धर्मदर्शनसंस्कृतिसभ्यतानाम् अन्येषां च चिन्तनक्षेत्राणाम् मूलं वैदिक साहित्यमेवास्ति। ऋग्वेदस्य न केवलम् इतरेषु वेदेषु अपितु समस्तेऽपि विश्वसाहित्ये प्राचीनतमत्वात् पापपुण्ययोरपि विषये प्राचीनतम चिन्तनम् ऋग्वेदे एव लभ्यते।

संगणके संस्कृतम्

हरेकृष्ण मिश्र, कटक

सांप्रतिकानुसन्धाने संगणक यन्त्रे शब्दानां समनुकूलन निमित्तं स्वीकृतोविधिः प्रबन्धेऽस्मिन् पर्य्यालोचितः।

अत्र संगणक भाषा निर्माणे संस्कृतस्योपयोगः, संस्कृताश्रित भाषिककल्पनानां विनियोग श्च संक्षिप्तरीत्या प्रदर्शितः, यन्त्रानुवादं क्षेत्रे संस्कृतस्योपयोगः,. कृत्रिममेधायाः संस्कृताश्रित पद्धतीनामुपयोगः, अपि च शब्दसामग्रीणां समनुकूलन विषयिणि चर्चा प्रबन्धेऽस्मिन् प्रदर्शितम्।

पादाघातादशोको विकसति : मूलं परम्परा च

डा० हरिशंकर झा, भागलपुर

काव्यपरम्परासु कविपरम्परानिः कविसमयव्यवहारः प्राचीनकालादेव समादृतो वर्तते । राजशेखरात् पूर्वं काव्यरचनाचतुराः कालिदासादयो–महाकवयस्तु कविसमयप्रयोगं काव्येषु सौन्दर्यातिशयमाधातुं यथावसरं विहितवन्तः । नतु लक्षणग्रन्थे एतत्प्रसंगे कश्चिद् संकलितविचारः आलंकारिकैः कुत्रापि कृतः । सर्वप्रथमं राजशेखरेणैव स्वकाव्यमीमांसायाः १४, १५, १६ तत्रे अध्याये कविसमयसम्बन्धे विस्तृतो विचारः प्रदर्शितः । कविसमयं परिभाषमाणेन तेन लक्षितं यत्—

'अशास्त्रीयमलौकिकञ्च परम्परायातं यमर्थमुपनिषध्नन्ति कवयः स कविसमयः इति ।

न्यायशास्त्रे अद्वैतम्

दोर्बलप्रभाकर शर्मा, कोव्वूरू

अस्मिन्निबन्धे न्यायशास्त्रे अद्वैतबीजानां सद्भावः वर्णितः निरूपितश्च । अनित्यत्वं पुरस्कृत्य परमाणुशेषता वर्णिता । परमाणुपरममहतोः निरवयवत्व संयोगञ्चाश्रित्य सर्वव्यापि त्व ब्रह्मात्मकत्व व्यवस्थापितम् । नश्वराणाञ्च परिणामशीलिनां पदार्थाना व्यावहारिकत्वं, पारमार्थिकतया ब्रह्मात्मकत्वं सूचितम् ।

कर्तृकर्मणोः कृति

डा० एस. टी. के. एस. रंगाचार्युलु, राजामुन्दरी

कर्तृकर्मणोः कृति २-३-६५ इति, सूक्षे षष्ठी शेषे २-३-५० इति सूत्रान षष्ठीत्पनुवर्तते । अनभिहिते २-३-१ इत्यधिक्रियते । सूत्रे कृतीति सत्सप्तमी । तथाय कृन्प्रकृतिभूतधातूपस्थाप्य क्रियाया अनभिहिते ये कर्तृकर्मणी तत्र षष्ठी स्यादिति सूत्रार्थस्सिध्यति । उदा- कृष्णस्य कृतिः, जगतः कर्ता कृष्ण इति ।

ननु धातोश्च द्वितये प्रत्ययास्तिङः कृतश्च । तत्र तिङां लादेशत्वेन तद्योगे न लोकेति २-३-६९ निषेधेन पारिशेष्याद् कृद्योग एव षष्ठी सिद्धौ सूत्रे कृति इति पदं व्यर्थ स्यदिति चेत्—

न । कृतपूर्वी कटमित्यादौ षष्ठी वारणार्थमावश्यकत्वात् । अत्र कृतशब्दः भावक्तान्तः । कृदन्तशक्तिज्ञानसहकरिणोपस्थितायाः क्रियाया ये कर्तृकर्मणी तत्र यथा स्यान्न तु तद्धितान्तशक्तिग्रह प्रयोज्यक्रियाया इत्येतदर्थमावश्यकत्वात् । यथा ओदनस्य पाचक इत्यादि ।

भोजने नैवेद्य निरूपणम्

काशीनाथ झा, मधुबनी

विश्वस्मिन् भारतभूमिरेव कर्मभूमिरिति शास्त्रसम्मतत्त्वेन कर्मणोऽत्र प्राधान्यं स्वाभाविकम् । तत्र आश्रमचतुष्ट्यान्तर्गतसर्वाश्रमिणां परिपोषकत्त्वेन गृहस्थाश्रम य प्राधान्यं सर्वैः स्वीकृतम् । गृहस्थाश्रमिणां चतुर्विधपुरुषार्थलाभाय निर्द्धारितकर्त्तव्येषु विभिन्नकर्मसु नित्यकर्त्तव्यकर्मणः सर्वथा प्राधान्यं भवत्येवेति । तस्मिन् नित्यकर्मणि षोडश कर्माणि सन्ति । तेषु अन्यतम भोजनकर्मणः नितान्तं महत्त्वं सर्वैरनुभूयते । यतः तस्मिन् कर्मणि गृहस्थाश्रमिणां नित्यप्राप्त 'सूना' शब्दप्रतिपादितपञ्चमहापातक-निष्कृत्यर्थं कर्त्तव्येषु पञ्चमहायज्ञेषु अन्यतम देवयज्ञस्य नैवेद्यरूपेण प्रतिपादनम् । तत्र विभिन्न गोत्राणां विभिन्न नैवेद्यस्य शास्त्रीय वैज्ञानिकञ्च वैशिष्ट्यं सर्वथा अपेक्ष-णीयमिति संक्षेपः ॥

पशुबन्धविमर्शः

डा० दामोदर झा

वैदिकयज्ञेषु यज्ञीयद्रव्यभेदेनेष्टिपशुसोमत्वेन त्रैविध्यं विद्यते । यत्र मुख्यद्रव्यं दुग्धदधिघृतादि भवति सेष्टिरुच्यते । यत्र पुनर्द्रव्यं पशुर्भवति कश्चनः स पशुबन्धः पशुयागोवा भण्यते । यत्र च द्रव्यं सोमो भवति स सोमयागः । तत्र प्रत्येकं बहवो भेदा भवन्ति ।

पशुबन्धे पशुशब्दो न चतुष्पदादिपशुमात्रवाचकः अपितु बलिरूपेणोपाहृतः प्राणि-विशेषोऽस्यार्थः । तेषु प्राणिषु वैविध्यं विद्यते । देवताभेदेन, कामनाभेदेन, कालभेदेन, यज्ञभेदेन च पशूनां वैशिष्ट्यं तत्र-तत्र गृह्यते ।

अथ क्षयाधिमाससमीक्षा

मदनमोहन पाठक, पुरी

अर्कसंक्रमणद्वययुक्तस्य शुक्लादिचान्द्रमासस्य क्षयमासत्वं, तथा अर्कसंक्रान्ति विहीनस्य शुक्लादिचान्द्रमासस्य अधिमासत्वमिति शास्त्रेषु प्रतिपादितमस्ति ।

तत्र स्पष्टमानेन चान्द्रमासान्तःपातिसावनदिनसंख्या २६/३१/५० तथा च सौरमासान्तःपाति सावनदिनसंख्या ३०/२६/१७/३१/५२/३० ॥ इत्यनयोर्कालयोर्मध्ये यदन्तरं तद् कुदिनात्मकमधिदिनम् । यथा-"दर्शाग्रतः संक्रमकालतः प्राक् सदैव तिष्ठत्यवमा-वशेषम्" । अयमेव सौरचान्द्रान्तराधिशेषजन्यकालः दशनैवलाद्यै (३२/१६, मासैः अधि-मासपातस्य कारणं भवति ।

प्रायश्चित्तानां पापक्षयहेतुताविमर्शः

संसारेऽस्मिन् जायमानो मनुष्यः स्वकर्मानुसारं सुखं दुःखञ्च भुंक्ते । सुखदुःखयो हेतुत्वेन पुण्यं पापञ्च धर्मशास्त्रविद्भिः पौराणिकैश्च निर्णीतम् । पुण्यं पापञ्च अपूर्वत्वेन मीमांसकैः कल्प्यते । यतो हि धर्मजन्यं पुण्यापूर्वम् अधर्मजन्यं च पापापूर्वमिति । अतः अधर्मं आचरन् वेदे निन्दितं निषिद्धं च कर्म कुर्वन् नरः पापभागे भवति । तदर्थं च प्रायश्चित्तीयते । प्रसंगेऽस्मिन् उक्तं मनुना —

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चीत्तीयते नरः ॥

अस्मात् ज्ञायते यत् पापस्य कृते प्रायश्चित्तं मन्वादिमहर्षिभिः उपदिष्टम् ।

सांप्रतिकी संस्कृत–कथा

डा० निरंजनकर, पुरी

संस्कृत काव्य शृंखलायाम् गद्यकाव्यस्य महती भूमिका वर्त्तते । गद्यकाव्ये प्रकार द्वयमुपलभ्यते एकः कथाप्रकारः अपरः आख्यायिकाप्रकारः, आलंकारिकैः प्रकारद्वयमनुमतम् । परं गच्छताकालेन कथाप्रवृत्तौ महत्परिवर्त्तनं परिलक्ष्यते । सांप्रतीके काले आख्यायिका प्रकारः उपन्यासेषु दीर्घकथासु च उपलभ्यते । कथा प्रकारः लघुकथासु लघुतमकथासु च प्राप्यते । अत्र यद्यपि आलंकारिकलक्षणेषु सर्वथा संगतिः न दृश्यते तथापि तत्स्पर्शः अनुभूयते ।

सांप्रतिक कथाकाराः ये निरतं कथाप्रणयने मग्नाः तेषु डॉ. राधावल्लभत्रिपाठी, डॉ. राजेन्द्रमिश्रः, डॉ. केशवचन्द्रदाशः, इत्यादयः अन्यतमाः, दीर्घकथा प्रकारे राधावल्लभ त्रिपाठी महोदयस्य कतिपय-रचना संस्कृत पत्रिकासु प्रसिद्धिगताः । राजेन्द्रमिश्र महोदयस्य 'इक्षुगन्धा' दीर्घकथायाः उदाहरणं प्रस्तौति ।

कथावस्तुसंयोजनदृष्ट्या शकुन्तलाप्रणयवल्लर्योः तुलनात्मकं समीक्षणम्

मनोमोहन आचार्य, उड़ीसा

कालिदासस्याऽभिज्ञानशाकुन्तलमनुसरन्नुत्कलीयः कविर्गङ्गाधरमेहेरः प्रणयवल्लरीनामकं सार्थकनाम काव्यं प्रणिनाय । महाकवेः कालिदासस्य स्पष्टः प्रभावो गङ्गाधरोपरि परिलक्ष्यते । गङ्गाधरस्य प्रणयवल्लर्य्याः सप्त सर्गा यथाक्रमं प्रणयांकुरः – प्रणयपल्लवः— प्रणयप्रसूनं—प्रणयसौरभं प्रणयपुष्पे कीटः—प्रणयफलं—प्रणयच्छाया इति संज्ञिताः । एताः संज्ञाः काव्यस्य नाम प्रणयवल्लर्य्याः सर्वात्मना प्रणयप्राचुर्य्यं व्यञ्जयन्ति ।

वाग्भटस्य—काव्यादर्शः

डा० वसन्त कृष्णराव कान्हे, रायपुर

अन्वर्थाभिधानोऽयं वाग्भटः चिकित्साशास्त्रेषु चरकसुश्रुतयोरनन्तरं स्मर्यते । आयुर्वेदविद्यं काव्यमर्मज्ञोऽपि आसीत् । काश्मीरेपल्लविता अस्य प्रज्ञा स्थानानुगुणं रामणीयकं धत्ते । सुसंस्कृता, पाणिनीयाओजस्विनी अस्खलिता च वाणी हृदये प्रवाहिता । हृदये सर्वथा पद्यमयी भाषा छन्दो वैचित्र्यं च दरीदृश्यते । अनुष्टुप् आर्या स्रग्धरा वसन्त तिलका प्रभृतीनां पञ्चचत्वारिंशत् छन्दसां प्रयोगाः दृश्यन्ते ।

उपमा रूपक - दीपक—अनन्वय प्रभृतीनां अलंकाराणा प्रयोगेण बहुवोऽय चिकित्साग्रन्थः काव्यशास्त्र विनोदमपि करोति ।

संकर्षकाण्डस्यविंशति लक्षणमीमांसाशास्त्र पूरकत्वम्

डा० स.वें. रंगरामानुजाचार्य, कोव्वूरु

सङ्कर्षकाण्डस्य किंदेवता काण्डत्वम् उतकर्मकाण्डत्वम् । इत्यत्र अयं सम्प्रदायो जागर्ति वेदान्तसम्प्रदाये यत् सङ्कर्षकाण्डात्मक मीमासासूत्र सम्बन्धि अध्यायचतुष्ट्य देवतास्वरूपादिप्रतिपादकतया देवताकाण्डभिति, सङ्कर्षनाम्ना केनचित् भाष्यनिर्माणेन भूषितत्वात् सङ्कर्षकाण्डमिति च । अस्ति मीमांसाशास्त्रस्य षोडशलक्षणीति व्यवहार. । तत्र द्वादशलक्षणी तावत् शाबरभाष्यादि विशिष्टा कुमारिल प्रभाकरादि मीमांसकैः शास्त्रमूलत्वेन स्वीकृता महीयते जैमिनिप्रणीता । मीमांमा परिशिष्ट भूतायाः चतुरध्यास्याः पुनः शाबरभाष्याद्यभावात् मीमासकैरपि विशेषयोगदाना दर्शनाञ्च प्रायशः अप्रसिद्धैव अस्ति ।

ओंकारस्वरूपविमर्शः

के० सी० पाधी

वेदागमोपनिषद्दर्शनधर्मशास्त्रपुराणादिषु ओंकारस्य महती चर्चा विद्यते । ओकारः प्रणव इति वेदागमेषु श्रुतम् । अकारः विष्णुः, उकारः महेश्वरः, मकार. ब्रह्मा: । एतेषां सम्मेलनेन ओंकारो भवतीति पुराणेषु वर्णितमस्ति । ओंकारः प्रणव इति अमरकोषेऽपि ।

अव्ययरूपेण ओमित्यस्य प्रयोगो दृश्यते । तत्र औपचारिकपुष्टीकरणार्थे (एवमस्तु, तथास्तु) अङ्गीकरणार्थे च महाभारतादौ अस्य प्रयोगः प्राप्यते ।

अवधातोः 'अवतेर्टिलोपश्च' इति सूत्रेण मन्प्रत्यये ओमिति सिध्यतीति माधवीयधातुवृत्तौ कोशे च लिखितमस्ति । सन्दर्भेऽस्मिन् अनुस्वारविसर्गयोः सयोगेन 'ओम्' इति भवतीति सिद्धान्तयिष्यते ।

पाणिनिव्याकरणे परिभाषातत्त्वम्

डा० श्रीवर्द्धन ठाकुर, दरभङ्गा

शास्त्रसिद्धार्थव्युत्पादनार्थं परितः भासमानार्थञ्च परिभाषायाः भाष्ये निर्देशो वर्तते । परिभाषाणामपि तथैव प्रामाण्यमस्ति यथा सूत्राणाम् । यतश्च भगवता पतञ्जलिनैव क्वचिदिष्टविषये मुख्यलक्षणेन असिद्धिं परिज्ञाय गत्यन्तरमाश्रयता परिभाषा समाश्रिता । तथा च परिभाषाणां समाश्रयणे यदि नानिष्टं प्रसज्यते तर्हि तत्प्रामाण्यं सर्वथा अक्षुण्णमिति । अत एव नु राजकीयमित्यत्र 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषाश्रयणात् 'अल्लोपोऽन. (६-४-१३४)' इति सूत्रं न प्रवर्तते । आचार्यपारम्पर्योपदेशात् सन्देहेऽपि विशेषावगतिर्भवति । उक्तं नु 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमि' ति । एतेन लक्षणस्य व्याख्यानमेव परिभाषाणां प्रधानं लक्ष्यमिति भवति सुप्रतीतम् ।

लक्षणाशक्तिविचारः

डा० देवनारायण झा, दरभङ्गा

यत्तु पण्डितराज जगन्नाथेन स्वकीये रसगङ्गाधरे 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति लक्षणमकारि, तन्न समीचीनं प्रतिभाति । तन्मते यत्किञ्चिच्छक्यार्थ प्रतियोगिको यत्किञ्चिदर्थानुयोगिकः सम्बन्ध विशेषो लक्षणा पदार्थः सम्पद्यते । लक्षणाबीज निरूपणावसरे तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यथितावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्यम्, शक्यतावच्छेदक रूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात् इत्यपि प्रतिपादितम्मूले । तन्न सङ्गच्छते यतोहि शक्यतावच्छेदक रूपेणलक्ष्य माणस्य स्वीकारे भवेन्नाम गगायां घोष इत्यत्र लक्षणा यतोहि तत्र लक्ष्यतावच्छेदकस्य तटत्वस्य बोधः शक्यतावच्छेदक रूपेण गगात्वेनैव सभवतीति शक्यतावच्छेदकारोप रूपा लक्षणा सिद्ध्यति ।

श्रीमद्भगवद्गीतायां मनोविश्लेषणम्

भगबान साहू

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। (भ. गी.–६/३४)

प्राचीनभारतीया चिन्ताधारा न केवलम् आध्यात्मिका, अपितु मनोवैज्ञानिकीत्यत्र नास्ति सन्देहावसरः । यद्यपि तत्र मनोवैज्ञानिक समस्याध्ययनाय न कश्चन शृङ्खलितः क्रमः समुपलभ्यते तथापि ज्ञानशास्त्र-तर्कशास्त्र-नीतिशास्त्रादीनामध्ययनाय सोल्लासकरः क्रमः सम्प्राप्यते । यतोहि आध्यात्मिकशास्त्रेण नीतिशास्त्रेण च सह मनोविज्ञानस्य समीपसम्बन्धः वर्तते इति विदुषां मतिः । मनोविज्ञानाकाश्वे भास्करोपमस्य फ्रयड्महोदयस्य सिद्धान्ताऽपि श्रीमद्भगवद्गीतायाः सिद्धान्तः श्रेष्ठायते इति उपरितनश्लोकाद् प्रकटितं भवति ।

श्रीमद्भागवतानुसारं भजभञ्जाभ्यां भक्तेः-सिद्धि

डा० हरिशंकर पाण्डेय, बोधगया

भज सेवायाम् भञ्जो आमर्दने इति भ्वादिरुधादिगणीय धातुभ्यां क्तिनि प्रत्यये कृते भक्तिशब्दस्यसिद्धिः संजायते । भजधातोः निष्पन्ना भक्तिः सेवारूपा यस्यां केवलभगवच्चरणरतिरेव विद्यते । भक्ताः मुक्तिमपि विहाय भगवतः दासत्वं कामयन्ते । न तत्र संसारबन्धनविच्छेदनमथवा संसृतिचक्रोच्छेदनम् । शाश्वद् जन्मलब्ध्वा हरेर्भक्तिमिच्छन्ति भक्ताः । प्रह्लादपृथु नलकुबरमणिग्रीवादीनां भक्तिः भजात्मिका ।

भञ्जात्मिकया भक्त्या रागद्वेषादिसंसारिककामकर्मान् विधूय भगवतः शाश्वत्पदमुपैति भक्तः । श्रीमद्भागवते बहुविधस्थलेष्वस्याः प्रयोगमुपलभ्यते । भक्ति—आत्मरजस्तमोपहा कामकर्मक्लेशमुक्तिदा शोकमोहभयापहा इति ।

सामवेदस्य स्वतन्त्रं महत्त्वं वैशिष्ट्यं च

प्रतिभा, जम्मू

निस्सीमज्ञानसरसि सकलेऽपि वैदिकसाहित्ये स्वसुमहन्महत्त्वेन समुल्लसति सामवेदः । शास्त्रेषु 'सामवेद एव पुष्पम्' 'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्' 'सामवेदश्च वेदानाम्' 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' इत्यादिप्रचुरप्रशस्तिभिः प्रथिता अस्यापूर्वप्रतिष्ठा ।

सहस्रशाखाभिस्संवलितस्यास्य वेदस्य सर्वाधिकं साहित्यम्—अष्टौ ब्राह्मणग्रन्थाः, द्वौ आरण्यकग्रन्थौ, अनेकानि कल्पसूत्राणि, प्रतिशाख्यानि, अनेके शिक्षाग्रन्थाः, विशालतमम् अनुक्रमणीसाहित्यञ्च ।

आर्चिकसंहिताख्यः काण्डानां काण्डान्तर्गतमन्त्राणाञ्च क्रमः नितरां सुव्यवस्थितः वैज्ञानिकश्च ।

लक्षणा शब्दव्यापारोऽर्थव्यापारो वा ?

सुरेशचन्द्र दास, पुरी

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। इत्यादौ तत्रभवता महाकवि कालिदासेन शब्दार्थयोः यो नित्यसम्बन्धः प्रदर्शितः, सः मुख्यतया पदशास्त्रस्य व्याकरणस्य विवेच्यविषयः । तथापि शास्त्रान्तरेषु आनुषङ्गिकतया प्रसङ्गक्रमेण तद्विषयिकी चर्चा विहिता । साहित्यशास्त्रेऽपि काव्यात्मभूतस्य रसस्य विभावादिसंयोजनमूलकत्वं सर्वसम्मतम् । विभावादिसंयोजनं च शब्दार्थमुखेन पुरस्क्रियते । अतः प्रायशः सर्वैरालङ्कारिकैः यथामति शब्दार्थयोः सम्बन्धस्योपरि शब्दस्यार्थप्रत्यायक शक्तीनां चोपरि विमर्शो विहितः । ध्वन्यालोककारेणापि प्रसङ्गेऽस्मिन् उक्तम् ।

कालिदासकाव्ये प्रकृतिवर्णनवैचित्रम्

प्रो० प्रमेश आचार्य, आसामं

वैदिकसाहित्यादारभ्य संस्कृत वाङ्मये प्रकृतेः स्थानमुच्चैभसिवेतराम। तथापि कालिदासस्य काव्येषु तथा नाटकेषु समुपस्थापितायाः प्रकृतेः चित्रं निरुपमतया सर्वेषां साहित्यरसिकानां दृष्टिं समाकर्षति। कवेरस्य कृतिषु प्रकृतेरुपस्थापनं बहुधा भिद्यते। तथाहि क्वचित् प्रकृतेः यथायथं रुपवैचित्रं विलसति। क्वचित् प्रकृतौ मानविकधर्म-समारोपनद्वारा तस्याः प्राणिधर्मत्वं प्रकाशयितुं कविना प्रयतितम्। कुत्रापि प्रकृतिः मानवानां सुहृद्रूपेण मुपस्थापिता महाकविनानेन। कुत्रापि वा मानवेतरप्रकृतिः मानव-प्रकृतेः समुद्दीपकतया चित्रिता। एवं कालिदासकाव्ये प्रकृतेरुपस्थापनशैल्याः वैचित्रं प्रबन्धेऽस्मिन् प्रदर्शयितुं प्रयतितम्।

'विवेकानन्दविजयम्' महानाटके राष्ट्रियतानिरूपणम्

अरुणकुमार पाण्डेय, इन्दौर

डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर महोदयेन विरचिते "विवेकानन्दविजयम्" इत्याख्ये महानाटके साद्यन्तं राष्ट्रियतायाः अभिव्यञ्जना प्राप्यते। यद्यपि राष्ट्रस्य राष्ट्रियतायाश्च प्रचलनम् तदैव जातम्, यदा आंग्लदेशीयैः निरुद्धस्य भारतवासीनां मनसि राष्ट्रकृते प्रतिक्रियारूपेण चिन्तनं समारब्धम्। यदि राष्ट्रियतापदस्यार्थः स्वदेशप्रेमतः क्रियते तदवश्य-मेव देशस्य जड़चेतनद्रव्ययोः तादात्म्यमेव राष्ट्रियतायाः परिधौ सन्निविष्टं भविष्यति।

स्वर्गतानां पण्डितकविवरलक्ष्मीझाशर्मणां काव्यकृते स्त्रिवेणिकायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्

स्वर्गीयः पण्डित कविर्झोपाख्यो लक्ष्मीनाथशर्मा स्ववैदुष्या कविप्रतिभया सदविप्रसमुदाचारेण च मिथिलायां विश्रुतो लोकप्रियश्चाभूत्। अयं ख्रैस्तोनविंशाब्दस्य चरमभागे मैथिलश्रोत्रिय ब्राह्मणानां नरोन कुलस्य जनिमग्रहीत्। अस्य पितुर्नाम यदुनाथशर्मा आसीत्। मिथिलायां 'नरोन' कुलस्य सारस्वती साधना लोक विश्रुता आसीत्। अयं स्वजन्म भूमौ मिथिलायां विद्यानिकेतन भूतायाञ्च वाराणस्यां स्व० पण्डित लोकनाथ शर्मभ्यः, स्व० म०म० परमेश्वर झा शर्मभ्यः, स्व० पण्डित शिविकुमार शास्त्रिभ्यश्च व्याकरण न्याय–काव्य शास्त्राणि समधीतवान्। समधीत विविधविद्योऽयं काश्यांहरद्वारे मथुरायाञ्च कञ्चित् कालमध्यापनमकार्षीत्। परं पुत्रसन्निधौ मृत्युं वैकल्पिकंमुक्ति साधनं मन्यमाने वृद्धेन पित्राऽऽगृहीतः स्वकीय ग्राम निकट वर्तिनि विहारप्रान्तस्य मधुवनी मण्डलान्तर्गते–मधेपुराख्ये ग्रामे आंग्लोच्च विद्यालये संस्कृताध्यापकोऽभूत्।

पुराणेषु अपाणिनीयप्रयोगः

सर्वविदितमिदं यत् वैदिक-वाङ्मयवत् पौराणिक-वाङ्मयेऽपि सर्वप्रथमं ब्रह्मणा प्रादुर्भूतम् । यथा—मत्स्यपुराणे –

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोपपादकम् ॥

अथर्ववेदेऽपि—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥

उत्सन्न यज्ञविमर्शः

उदयचन्द्र बन्द्योपाध्याय, आसनसोल

अत्र ब्राह्मणात्मकेषु वेदेषु यज्ञाणाम् विवरणप्रसङ्गे उत्सन्नयज्ञेति शब्दस्य प्रयोगः केषुचित् स्थलेषु परिलक्ष्यते । धातुपाठानुसारतः 'विशरणगत्यवसादनेषु' सद्धातुः प्रयुज्यते । अतः उत्सन्नशब्दस्य विनष्टः (विशरण) विनष्टप्रायश्च (अवसादन इत्यर्थद्वयं सम्भवति । संश्लिष्टेषु वेदवाक्येषु उत्सन्नयज्ञेति शब्दस्य विहगदृष्ट्या पाठेन प्रतिभाति यत् शब्दस्यास्य एकस्मिन्नेव विशेषार्थे ग्रहणं न युज्यते इति । तद् यथा अथर्ववेद संहितायाम् (शौ ११/७/८) सत्रयाग विषये उत्सन्न यज्ञेति शब्दः प्रयुक्तः । अत्र तु विनष्टार्थे ग्रहणम् युज्यते । ऋक्संहितायाम् वाहुल्येन सत्र शब्दस्य व्यवहारात् यागस्यास्य प्राचीनत्वविषये सन्देहो नास्ति । (ऋग्वेदीये युगे कौमस्य मंगलार्थे समवाय प्रथया सत्रयागः प्रचलति स्म ।) किन्तु अवरेकाले अथर्वसंहितायुगे सत्रस्य उत्सादनम् जातम् इति तत्रोत्सन्न-शब्दप्रयोगः ।

कैयटतः भट्टोजिदीक्षितं यावत् पाणिनिव्याकरणस्य समीक्षणम्

डा० गौराङ्गचरणदास, बालेश्वरम्

कैयटस्य समयः प्रायशः एकादशशतकः । दीक्षितस्य तु सप्तदशशतकः । अनयोर्मध्ये षड्शतवर्षात्मकं व्यवधानम् । अस्मिन् समयाभ्यन्तरे पाणिनिव्याकरणस्य धारा अतीव महत्त्वपूर्णा ।

पाणिनिव्याकरणस्य धारा त्रिभिः प्रकारैः विभक्तुं शक्यते । (i) त्रिमुनिकालः (ख्री० पू० ५०० - ख्री-१००), (ii) त्रिमुनि टीकाकालः (ख्री—१००—ख्री—१३००), (iii) प्रक्रियाकालश्च (ख्री - १३००) । एतस्मिन् समयाभ्यन्तरे ।

(i) प्राचीन व्याख्यानपरम्परायां बलिष्ठ भाष्यवृत्तिव्याख्यानम् ।

(ii आपाणिनीयव्याकरणानां दृढसमादरः, तथा पाणिनिव्याकरणस्यावरुद्धकालः ।

(iii) प्रक्रियाग्रन्थानां क्रमशः पूर्णताप्राप्तिः ।

स्त्रीप्रत्ययानामर्थवैज्ञानिकविवेचनम्

डा० वैद्यनाथ मिश्र, इस्पातनगर

प्राय: संप्रति आधुनिकभाषाविज्ञानदृष्ट्या कृदन्ततद्धितादय: प्रत्यया एव विवेचनीक्रियन्ते। तत्र स्त्रीप्रत्यानां विवेचनं न विधीयते। किन्तु सम्यग् विचारेण परिशीलनेन अनुसंधानेन च तथ्यमिदं स्पष्टीभवति यत् स्त्रीप्रत्यया: भाषाविज्ञानस्य प्राय: समस्तभेदोपभेदै: अङ्गै: समीक्षणीया: सन्ति। यथा—आकृतिविज्ञानदृष्ट्या, ध्वनिविज्ञानदृष्ट्या, अर्थविज्ञानदृष्ट्या वाक्यविज्ञानदृष्ट्या च। तत्र शोधपत्रविस्तारभयात् प्रस्तुतशोधपत्रे स्त्रीप्रत्ययानां केवलम् अर्थवैज्ञानिकं विवेचनं हि समुपस्थाप्यते। अत्र मया:—

(क) अर्थस्य स्वरूपं लक्षणं च संक्षेपेण प्रस्तूय अर्थविज्ञानस्य कार्यक्षेत्राणि समीक्षणीयानि।

(ख) अर्थनिर्धारणोपाया: प्रस्तोतव्या:।............

शांकरवेदान्ते मूर्च्छावस्था

प्रभातरञ्जन महापात्र, पुरी

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तिस्रोऽवस्था: शरीरे स्वीक्रियन्ते वेदान्तशास्त्रे। चतुर्थी च शरीरादपसृति: मृत्युरिति। एताभि: सह मूर्च्छावस्थानाम्नी काचिदवस्था परिलक्ष्यते। अमुं प्रकृत्य शारीरकभाष्ये विचारोऽयं प्रथमं प्रवृत्त:। तत्र श्रुतिप्रमाणं लौकिक दृष्टान्तश्च अवलम्बितौ। सुषुप्तिमृत्युभ्यां मूर्च्छा पृथगिति प्रत्यक्षमेव। घनघनोच्छ्वासप्रश्वासवान् मूर्च्छित: सुषुप्तस्तु धीरतया नि:श्वास प्रश्वासवान् इति लोकेदृश्यते। कदाचित् मूर्च्छित: चिकित्सया जीवितुं शक्नोति। मृतस्तु न तथा। इति भेद:। आयुर्वेदविदोऽपि भेदममुमामनन्ति। किन्तु तस्या: स्वातन्त्र्यमस्ति न वेति, प्रामाण्यं वर्तते न वा इति विचारकोटौ अन्तर्भाव्य मूर्च्छा मरणस्य द्वारं किं च अर्द्धसुषुप्तिरिति प्रबन्धेऽस्मिन् विशदं सिद्धान्तयिष्यते।

संस्कृतालंकारशास्त्रे काव्यहेतुविमर्शः

डा० राजदेव मिश्र

संस्कृतालङ्कारशास्त्रीयपरम्परा नितरामुदात्ता समृद्धा प्राचीना चास्ति। एकत: संस्कृते काव्यप्रतिभामण्डितै: कविभि: स्वालौकिक काव्यसृष्टिमिस्तस्य (संस्कृतस्य) भाण्डागारं परिपूर्णतां नीतं, पुनरपरत: काव्यतत्त्वमीमांसकैरलङ्कारशास्त्राचार्यैस्तस्य काव्यतत्त्वचिन्तनपरम्पराऽपि नितान्तं समृद्धिं प्रापिता। परम्परायामस्यां काव्यसम्बद्धसर्वविषयाणां सम्यक् विचारो जात:।

स्वप्नवासवदत्ताऽभिज्ञान शाकुन्तलयोः संवादानुशीलनम्

डा० वदुल सुब्रह्मण्य शास्त्री, विशाखपट्टणम्

संस्कृत रूपक रचयितॄणां भासः अतिप्राचीनः। नाटकरचना वैदग्ध्येन महाकविरयं वाग्देवतायाः हासः इति "भासो हासः" इति आभाणकेन प्रख्यातम्। तस्य रूपकेषु स्वप्नवासवदत्तम् अग्नि शुद्धिमपि संप्राप्य वैशिष्ट्यं प्रकटयति।

तथा। संस्कृत कवीषु कालिदासः अग्रगण्यः इति साहित्यलोके विश्रुति गतः। तस्य रचनासु सर्वासु अभिज्ञानशाकुन्तलं बहुजनप्रशंशापात्रं भवति।

एवं उभावपि महाकवी। तथा सुमेधसौ। सुमेधसां च भावेषु, रचनाशिल्पे च बहुशः सादृश्यं दृश्यते। तच्च प्रातभा सिद्धमेव। न कृतकमिति आलंकारिक समयः। "संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्' इति आनन्दवर्धनाचार्येण समुद्घुष्टं खलु।

हिन्दुविवाहप्रथा त्रुटिपूर्णा न वा

महामाया चौधुरी

रवीन्द्रनाथादय नव्यपण्डितानां गते हिन्दुविवाहप्रथा त्रुटिपूर्णा। हिन्दूनां विवाहः मात्र भोगाय, तत्र न किञ्चित् आध्यात्मिकतायावसरः। सगोत्रविवाहः असवर्ण-विवाहश्च शास्त्रसिद्धः। हिन्दुविवाहः इस्लामधारया प्रभावितः—इत्यादय नव्यानां पाश्चात्यानां मतं निराकृष्य यथामतिः प्रबन्धेऽस्मिन् विचार्यते मया।

सुखदुःखानां बाह्यत्वाबाह्यत्वविमर्शनम्

डा० दीपक घोष, कलकत्ता

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् (२/२/१) इति वेदान्तदर्शनस्य सूत्रमवलम्बय सांख्यमतखण्डनावसरे भाष्यकारेण शंकराचार्येण एवमुक्तं यत् — न हि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतया अन्वय उपपद्यते, सुखादीनामान्तरत्वप्रतीतेरिति। भामतीटीकाकृताऽपि तथैव समाहितम् - तस्मात् सुखादिरूपसमन्वयो भावानामसिद्ध इति नानेन तद्रूपं कारणमव्यक्तमुन्नीयत इति। अर्थात् आचार्यशंकरमतेन अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिप्रतीत्या सुखदुःखानि केवलम् अन्तःकरणधर्माः, न तु वस्तुधर्माः, वस्तुस्वरूपा वा। न्यायवैशेषिकमतेन सुखदुःखानि हि आत्मधर्मविशेषाः। अद्वैतमतेन सांख्यमतेन च आत्मनो निर्धर्मकत्वात् सुखदुःखादीनाम् आत्मधर्मत्वं भवितुं नार्हति।

'हिन्दीभाषा खण्ड'

वेद और ब्रह्माण्ड विज्ञान

डा० कैलाशनाथ तिवारी, इटावा

वेद आदिकाल से ही कवियों, मनीषियों तथा ऋषियों की क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा के चिन्तन और मनन का विषय रहे हैं जिनसे ज्योतिष आदि शास्त्रों के विपुल आर्ष साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। अर्वाचीन मनीषियों और विद्वानों ने भी विविध दृष्टिकोणों से पर्याप्त अनुसंधान करके वेदमन्त्रों के अनेक अर्थों एवं गूढ तथ्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है तथापि वेदमन्त्रों में सृष्टि के अनेक ऐसे अस्पृष्ट एवं गूढ रहस्य विद्यमान हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं।

वेद मन्त्रों में विभिन्न वैदिक देवताओं का वर्णन विविध रूपों में हुआ है जिनके आधार पर विविध प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। वेदमन्त्रों में प्राप्त जिज्ञासाओं तथा इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य, उषा, तथा अंगिरस आदि के विषय में प्राप्त कतिपय वर्णन खगोल विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद में समाजवाद की परिकल्पना

डा० हेमलता विद्यालंकार, भागलपुर

प्रस्तुत निबन्ध में ऋग्वेद में समाजवाद से सम्बन्धित तथ्यों को उजागर करने का प्रयत्न किया गया है।

वैदिक उषा के स्वरूप का वैज्ञानिक विवेचन

डा० अवतारकृष्ण गुर्टू, मथुरा

वेदों में उषा सूक्तों की पर्याप्त संख्या है। अन्य सूक्तों में भी उषा के विषय में मन्त्र मिलते हैं। इन सभी स्थलों मे उषा के स्वरूप, स्वभाव, वेशभूषा और उसके द्वारा किये जा रहे जनकल्याणकारी कार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। यह सभी साहित्यिक दृष्टि से और कविहृदय से लिखा गया प्रकृतिचित्रण मात्र है। इस पत्र मे सामान्यरूप से प्रसिद्ध धारणा, जिसमें उषा को कही सूर्य की पुत्री, कही पत्नी, कही प्रेयसी आदि बताया गया है, से हट कर शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से उषा के स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। ठोस वैज्ञानिक प्रयोगों और नियमों के आधार पर उषाकाल में होने वाले आकाशीय परिवर्तनों और प्राणिजगत पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का विस्तृत विश्लेषण एव विवेचन करने की दिशा में यह एक प्रयास है।

उपनिषत्कालीन उपनयन संस्कार

डा० कान्तिलाल रा० दवे, विद्यानगर

उपनिषत्काल में उपनयन संस्कार को विद्याभ्यास की समाप्ति का सूचक माना जाता था। प्रारम्भ में यह संस्कार त्रिवर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए विद्याप्राप्ति के हेतु आचार्यकुल में प्रवेश की एक धार्मिक विधि के रूप में प्रचलित था। त्रिवर्णों के ब्रह्मचारियों को क्रमशः आठवें, ग्यारहवें एवं बारहवें वर्ष की आयु में और अपवादरूप में क्रमशः बारहवें, सोलहवें और चौवीसवें वर्ष की आयु में इस संस्कार से दीक्षित करने का विधान था। श्वेतकेतु एवं उपकोसल के दृष्टांत से इस अपवाद की पुष्टि होती है। ऋग्वेद में इस संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेदकाल में इस सस्कार से दीक्षित व्यक्ति को द्विजत्व प्राप्त होने की मान्यता दृढ़ थी। त्रिरात्र व्रत के समापन में ब्रह्मचारी की बुद्धि, स्मृति एवं प्रज्ञा को अधिक तीक्ष्ण बनाने के प्रयोजन से 'मेधाजनन' विधि की जाती थी।

वैदिक स्वर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

डा० सुधीरकुमार गुप्त, जयपुर

ऋग्वेद में तीन प्रकार की वाणी का उल्लेख है—धीर तत्त्वों द्वारा निर्मित, देवी वाक् और जगत् की उपादान कारण अव्याकृत वाक्। इन में से पहली ही ब्रह्मवत् व्यापक मन्त्रों की भाषा है जो बीजगणित के सूत्रों के समान प्रकरण आदि के अनुसार अनेक अर्थों की प्रकाशक है। स्वर अर्थों की सीमा बाँधता है, अतः इस भाषा में स्वरों का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। स्वर बोलचाल की मृतभाषा में ही उपयोगी हो सकता है। मन्त्रों की भाषा ऐसी नहीं मानी गई है। स्वरों की उत्पत्ति और विकास का इतिहास भी इंगित करता है कि उदात्त आदि के वेदार्थ में योग की मान्यता पर्याप्त अर्वाचीन है।·········

साहित्य अकादमी पुरस्कृत संस्कृत कथाकृति 'इक्षुगन्धा'

डा० योगेशचन्द्र दुबे, इलाहाबाद

साहित्य अकादमी भारतीय संविधान द्वारा अनुमोदित भारतीय भाषाओं में प्रतिवर्ष लिखे जाने वाले सर्वोत्तम साहित्य को संस्तुत एवं सम्मानित करने वाली एक स्वायत्त संस्था है। अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र की संस्कृत कथाकृति 'इक्षुगन्धा' को सत्र १९८८ के लिए इसी साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित होने का सौभाग्य मिला है। इस महान राष्ट्रीय पुरस्कार को प्राप्त करने वाले डा० मिश्र संस्कृत रचनाकारों की वर्तमान पीढ़ी के सर्वाधिक समर्थ, सशक्त और सक्रिय रचनाकार हैं। खण्डकाव्य, नवगीत, महाकाव्य, एकाँकी, नाटिका तथा कथा—इन समस्त विद्याओं में सोलह से अधिक मौलिक कृतियों की सर्जना करने वाले डा० मिश्र को राष्ट्र का सर्वोच्च साहित्य अकादमी पुरस्कार उनकी कथाकृति 'इक्षुगन्धा' पर मिला, यह कम सुखद आश्चर्य नहीं है।·········

संस्कृत रूपकों में अद्भुत रस का स्थान

डा० श्यामसुन्दर शर्मा, शिवपुरी (म.प्र.)

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय होता है तथा विस्मय की उद्भावना लोक में सामान्यरूप से उपालभ्यमान व्यवहारों से नहीं होती, अपितु असाधारण अथवा अलोक सामान्य घटनाओं के द्वारा ही होती है। यह सत्य है कि अलोक सामान्य घटनायें मानव जीवन में घटित होती रहती हैं जिनके कारण विस्मय भाव मानवमन में स्थायित्व प्राप्त करता है। किंतु ऐसी घटनायें विरल भाव से एवं प्रायः अपवादस्वरूप होती हैं। अतः जब कभी ऐसी असाधारण घटनायें घटती हैं जिनके पीछे कोई विवेचनीय कारण लक्षित नहीं होता तो व्यक्ति उन्हें विस्मय के साथ ग्रहण करता हुआ उनके पीछे किसी अलौकिक शक्ति को कारण मान लेता है।·········

छन्दः पादौ तु वेदस्य

प्रो० इन्द्रनाथ झा, बिहार

भारतीय छन्दः शास्त्र की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक वाङ्मय से लेकर लौकिक साहित्य तक इसका क्रमबद्ध विकास भी होता रहा है। यद्यपि छन्द का शास्त्रों में वश, स्वैराचार, अभिप्राय, आच्छादन आदि अनेकों अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति एवं उत्पत्ति की विवेचना की गई है, किन्तु यहाँ छन्द शब्द रूढ़ है, 'पदवद्ध रचना' के अथ मे। जिस प्रकार जल के बहाव एवं विस्तार को नियन्त्रित करने के लिए नदी के तट को बाँध दिया जाता है उसी प्रकार रचना को वर्ण एवं मात्रा सम्बन्धी कुछ नियमों के द्वारा पदबद्ध एवं पादबद्ध कर नियन्त्रित कर दिया जाता है। इस प्रकार की छन्दोबद्ध रचना की सबसे बड़ी विशेषता है कि सबको सुर तथा लय मे बाँधकर गाया जा सकता है।

वैदिक मन्त्रों में कवित्वगत समस्यापूर्ति की अवधारणा

डा० मोतीलाल पुरोहित 'प्रज्ञाचक्षु', जबलपुर

वैदिक मंत्रों में अनेक मन्त्र ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनके पठन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्त्रों में काव्यगत समस्यापूर्ति की अवधारणा विद्यमान है। ऋग्वेद के अन्तर्गत इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया सूक्त जिसमें आये हुए प्रत्येक मन्त्र के अन्त में "...स जनास इन्द्रः" यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद के अन्तर्गत भी (१) पतये नमः (२) ...भ्यश्च वो नमो नमः (३) ...यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। (४) हविषाविधेम ।। (५) मनः शिव संकल्पमस्तु ।। (६) तेषा ॐ सहस्त्रयोजनेऽबधन्वानितन्मसि, इत्यादि। इस प्रकार के वाक्य मन्त्रों के अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। इन वाक्यों से ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक मन्त्रों में काव्यगत समस्यापूर्ति का स्वरूप विद्यमान है।

योगाश्रित कैवल्य

डा. सूरता विद्यालंकार, देहरादून

भारतीय दर्शन में कैवल्यप्राप्ति के साधनरूप में अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। विद्वानों ने ज्ञान, कर्म एवं भक्ति को साधनरूप में स्वीकृत किया है। सांख्य दर्शन में ज्ञान को ही मुख्यतया मोक्षप्राप्ति का मार्ग बताया है परन्तु योग दर्शन ने ज्ञानजन्य योग को ही कैवल्य के साधन के रूप में स्वीकृत किया है । अतः विस्तृतरूप से द्विविध-योग का निरूपण महर्षि पतंजलि मुनि ने किया है।

संस्कृत व्याकरण में रूपस्वनिमिक

विश्वनायकम्, तरवारा, सिवान, बिहार

भाषा-विज्ञान में पाणिनीय व्याकरण का महत्वपूर्ण योगदान है। रूपस्वनिम-विज्ञान में दो रूपिमों के संलेख से भाषा में ध्वन्यात्मक परिवर्तन होता है। संस्कृत व्याकरण प्रत्ययों एवं विभक्तियों का है। प्रत्ययों के योग से ही शब्दों एवं पदों का निर्माण होता है। अर्थतत्व और सम्बन्धतत्व के समवेत होने पर ये सम्बन्धतत्व अनेक प्रकार से ध्वन्यात्मक परिवर्तन करते हैं।

भाषा वैज्ञानिकों ने स्वनिमिक परिवर्तनों से केवल संधि का ही अर्थ लिया है। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में सन्धि शब्द के लिए ही यह रूढ़ हो गया है। परन्तु यह बात समुचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि दो पदों के मेल से जो ध्वनि परिवर्तन होता है वह केवल सन्धि में ही नहीं अपितु नामरूप-रचना, समस्त पद, कृदन्त-तद्धित में और स्त्री प्रत्ययों में भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

रामचरितमानस में 'राजधर्म'

डा० (श्रीमती) सुमनलता गुप्ता

अपने युग के स्वार्थी एवं भोगविलास में लिप्त राजा-महाराजाओं को देखकर प्रतिक्रियास्वरूप गोस्वामी तुलसीदास जी के मन में आदर्श राजा की जो छवि उभरी वह वस्तुतः कोरी कल्पना न होकर सत्य पर आधारित थी। उनकी दृष्टि में राजा धर्म का साक्षात् साकार रूप है। श्री रामचन्द्र जी के राज्य का चित्रण करते हुए तुलसी ने राजनीति के सर्वमान्य सिद्धान्तों का सर्वत्र ध्यान रखा है। इसी से उनका राजनीतिक ज्ञान भक्ति से गुम्फित होकर सशक्त रूप से अभिव्यक्त हुआ है । तत्कालीन अव्यवस्था ने उनको अतीत की ओर देखने की प्रेरणा दी। उनके राजनीतिक विचार वेद, उपनिषद, बाल्मीकि रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित होने के साथ ही नवीन और मौलिक हैं।

नाट्यशास्त्रीय भावों का विशिष्ट परिशीलन एवं समीक्षा

डा० रंजना कुमारी, मुजफ्फरनगर

काव्यानन्द के सन्दर्भ में भाव को अत्यधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि इसके उद्‌बोधन के पश्चात् ही काव्यशास्त्र के अन्य साधनों में गति आती है। काव्यात्मक अनुभूतियाँ दो रूपों में उपलब्ध होती हैं—सुखात्मक एवं दुःखात्मक। भाव के अनुभूतिगम्य इन दो रूपों में महान अन्तर है। सुख की उपलब्धियों के उपकरणों, व्यापारों तथा व्यक्तियों के सामीप्य की विकलता का यही आधार है। इसके विपरीत दुःखात्मक भाव होते हैं, जो अनिष्ट की स्थिति उत्पन्न करते हैं, जिसे पाकर, अपनाकर या जिसकी सम्भावनामात्र से ही चित्त को कष्ट होने लगता है। भाव-विवेचन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम आचार्य भरत का नाम आता है। इन्होंने चार सौ ई० पूर्व में रस सम्बन्धी चर्चा के प्रारम्भ में भाव की विस्तृत व्याख्या की है।.........

विश्वनाथकृत काव्यलक्षण : एक टिप्पणी

उमाकान्त शुक्ल, मुजफ्फरनगर

विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर शौद्धोदनि के काव्यलक्षण का प्रभाव देखा गया है। वस्तुतः उन्होंने चण्डीदास के "आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः. काव्यम्,' जो मम्मट के काव्य-लक्षण का ही निष्कृष्टार्थ है, को अपने काव्यलक्षण का आधार बनाया है। विश्वनाथ ने "आस्वादजीवातुः पदसंदर्भः काव्यम्" को काव्यप्रकाशदर्पण में "आस्वादात्मकं वाक्यं काव्यम्" इस रूप में और साहित्यदर्पण में "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इस रूप में पढ़ा है। चण्डीदास का 'पदसंदर्भः' विश्वनाथ के यहाँ 'वाक्यम्' और 'आस्वाद जीवातुः' 'आस्वादात्मकम्' फिर 'रसात्मकम्' बन कर उस व्यापक भावना को संकुचित करता गया जो मम्मट से चण्डीदास में आई थी।

भवभूतिकालीन आश्रम व्यवस्था

अञ्जना सिनहा, लखनऊ

व्यक्तियों से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र का निर्माण होता हैं, अर्थात् परिवार के स्वरूप और व्यवस्था से समाज का स्वरूप और व्यवस्था बनती है तथा सामाजिक स्थिति ही राष्ट्र की स्थिति होती है। नाटककार भवभूति ने चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम को सर्वोपरि माना है। भवभूति ने ब्रह्मचर्य आश्रम और बाल्यावस्था से समन्वित क्षत्रिय जाति को एक रमणीय मूर्ति कहा है। भवभूति ने ब्रह्मचर्य का संकेत ऋष्यशृंग के प्रयास से उत्पन्न होने वाले दशरथ के चार पुत्रों के प्रसङ्ग में किया है। उस समय नियमित रूप से शिक्षा-ग्रहण की जाती थी।.........

भागुरिस्मृति में नामधातु : एक विवेचन

डा० तुलाकृष्ण झा, बिहार

पाणिनिपूर्व वैयाकरणों में भागुरि प्रमुख है । पाणिनिस्मृत पूर्वाचार्यों में इसका उल्लेख नही है परन्तु शब्दशक्ति प्रकाशिका, न्यास, भाषावृत्ति तथा भाषाव्याख्याप्रपंच मे उनके मत का उल्लेख मिलता है । भागुरि का व्याकरणविषयक ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है । शब्दशक्ति प्रकाशिका के आख्यातप्रकरण मे भागुरिप्रोक्त नामधातुसम्बन्ध कारिकाओ का उल्लेख मिलता है । इसी ग्रन्थसामग्री के आधार पर प्रस्तुत निबन्ध मे भागुरि के नामधातु विषयक विचारों का विवेचन किया गया है ।

पदार्थ धर्मसंग्रह में सृष्टि-संहार-विधि

डा० (श्रीमती) शशिप्रभा 'कुमार', दिल्ली

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि संसार के सभी 'कार्य' द्रव्य सावयव और अनित्य है । इन सावयव द्रव्यों के विश्लेषण से हम नित्य, निरवयव, अन्तिम तत्त्व 'परमाणु' पर पहुँचते है जो अविभाज्य, सूक्ष्मतम तथा कार्य द्रव्यों से ही अनुमेय है । ये 'परमाणु' ही जगत् की सृष्टि तथा सहार के मूल उपादान कारण माने गये है । वैशेषिक परम्परा मे परमाणुओ से सृष्टि-सहार-प्रक्रिया का सर्वप्रथम विवेचन प्रशस्तपाद ने अपने 'पदार्थ-धर्म संग्रह" मे किया है एव इस सन्दर्भ मे सबसे पहले उन्होने ही ईश्वर' का नामत: निर्देश भी किया है । अत: वैशेषिक ईश्वरवाद के आरम्भिक सकेत भी यही प्राप्त होते है, चूँकि सूत्रकार कणाद ने तो कही ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नही किया ।

प्रशस्तपाद का कथन है कि ब्रह्मा के मान से सौ वर्ष के अनन्तर, जब वर्तमान ब्रह्मा के मोक्ष का समय होता है, उस समय कुछ काल तक प्राणियो की जन्म-मृत्युजन्य खिन्नता को विश्रान्त करने के लिए सकलभुवनपति महेश्वर को सहार की इच्छा होती है ।

उपनिषद् और असुर संस्कृति

डा० वेदवती वैदिक, नई दिल्ली

औपनिषदिकयुग मे मृत्यु के अनन्तर आत्मा की स्थिति के विषय में सदेह बना हुआ था । कुछ लोग मरणोपरात आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते थे जबकि अन्य "अयं लोको नास्ति पर इति मानी..." (कठ.) "न प्रेत्य सज्ञास्तीति" (बृह उप.) इन स्पष्ट शब्दो मे उसके अभाव का ही प्रतिपादन करते थे । छांदोग्योपनिषद् मे इन्द्र-विरोचन एवं प्रजापति के संवाद से ज्ञात होता है कि असुरराज विरोचन 'देह' को ही पूजनीय और सेवनीय मानता था । देह की पूजा करने और परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनों लोको को प्राप्त करता है । देह ही आत्मा है, ऐसी उनकी आत्मविद्या थी ।

इसी उपनिषद् में दान न देने वाले, श्रद्धा न करने वाले, और यजन न करने वाले को ही 'आसुर' कहा गया है ।

पुराणम् पञ्चलक्षणम्

डा. राघवेन्द्र नारायण 'आर्य', भागलपुर

भारतीय संस्कृति के आधारग्रन्थों में पुराणों का अनुशीलन अत्यावश्यक है। पुराणों की सत्ता मंत्र संहिता ब्राह्मण उपनिषद् सदृश ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में रहती आयी है। वस्तुतः हम किस प्रकार के ग्रन्थ को पुराण कहेंगे ? इसके लिए जो तत्कालीन लक्षण निर्दिष्ट किये गये उनका पालन कहाँ तक किया गया—यह बड़ा ही विवेच्य प्रश्न हो जाता है।

इस शोधपत्र में यह निर्देशित हुआ है कि सामान्यतया 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' की लोकप्रसिद्धि है परन्तु कतिपय ऐसे पुराण हैं जिनमें दस लक्षण तक पाये जाते हैं और कतिपय ऐसे पुराण है जिनमें ५ लक्षण तक नहीं हैं। इनमें उपपुराण भी आते हैं। इतना होने पर भी पुराणं पञ्चलक्षणम् की लोकप्रियता क्यों रही। वस्तुतः किन लक्षणों की प्रभुता ने दूसरे को अपने में समायोजित कर लिया जिससे पुराणं पञ्चलक्षणम् का अभिधान विश्रुत हो गया—इनका विवेचन तथा समाधान प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक भावदेव—स्कम्भ

डा. बीना मिश्रा, इलाहाबाद

सृष्टि के आधार के रूप में देवता 'स्कम्भ' की प्रशस्ति वेदों में है। इस 'स्कम्भ' देव की कल्पना स्कम्भन् क्रिया मे ही चेतनता का आधान कर की गई है। स्कम्भ शब्द स्कभ् 'रोधने' से निष्पन्न है। स्कम्भन् की यह क्रिया मुख्यरूप से इन्द्र, विष्णु, सोम, सूर्य के साथ जुड़ी हुई हैं क्योंकि आकाश और पृथ्वी को स्कम्भित करने का कार्य ये ही देव करते हैं। अस्कम्भायत् (ऋ० १.१५४.१), स्कम्भथुः (ऋ० ६-७२-२) क्रियावाचक, स्कम्भासः (ऋ०१.३४.२) स्कम्भनेभिः (ऋ० १.१६०.४) संज्ञावाचक के पश्चात् देवः स्कम्भः (अथर्व० १०.७) भाववाचक संज्ञा के रूप में एक अमूर्त भावात्मक देव हो गया।

संस्कृत श्लेषकाव्यों में वर्णित सामाजिक परम्पराएँ

डा. (कु.) रेखा शुक्ला, कानपुर

भारतीय सामाजिक परम्पराएँ प्रमुख रूप से स्मृतिग्रन्थों में सुरक्षित हैं। भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्वो में विविध संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थचतुष्टय इत्यादि का वर्णन समाज में प्रचलित परम्पराओं एवं पूर्वकालीन सभ्यता की ओर संकेत करते है। धनञ्जयकृत द्विसन्धानम् सन्ध्याकरनन्दिन् कृत रामचरितम्, कविराजसूरिकृत राघवपाण्डवीयम् एवं हरदत्त सूरि कृत राघवनैषधीयम् आदि श्लेषकाव्य घटनाप्रधान काव्य होने पर भी युगविशेष की प्रचलित सामाजिक परम्पराओं एवं भारतीय संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते है।

पौराणिक वर्ण-व्यवस्था तथा स्वामी दयानन्द

डा० दुलीचन्द शर्मा, कुरुक्षेत्र

सामाजिक जीवन की परिस्थितियों में मनुष्य के विशेष कर्तव्यों का नाम ही धर्म है। समाज की इस व्यवस्था के अनुसार मानव-समाज को चार भागों में विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। समाज की इस चतुर्वर्ण्य व्यवस्था का मूल ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का एक मन्त्र है, जिसके आधार पर पुराणग्रन्थों में कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जङ्घाओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। पुराण–ग्रन्थों के अनुसार मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र के रूप में उत्पन्न होते हैं। इनमें ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

यज्ञ : बहुजनहिताय बहुजनसुखाय

डा० रामकृष्ण मिश्र, मुजफ्फरपुर

प्राचीन साहित्य में यज्ञानुष्ठान पुण्यप्राप्ति की दृष्टि से निहित किया गया था—जनसामान्य की ऐसी धारणा है, किन्तु वह पुण्य आमुष्मिक ही नहीं, ऐहिक भी था। यह देखा जाता है कि वेद, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र और नीतिग्रन्थों में हमारे दैनिक जीवन के अनुष्ठीयमान कार्यों का विधान धार्मिक दृष्टि से किया गया है। धर्म का बन्धन दृढ़ समझकर ही तत्परक दृष्टि सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, किन्तु अवश्यकरणीय कर्म ही धर्म का पर्याय हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने जिसका अनुष्ठान व्यक्ति या समाज के लिए आवश्यक बतलाया है, वह वस्तुतः उसका अवश्यकरणीय कर्म है और वही उसका धर्म है, जिसकी अवहेलना कदापि श्रेयस्कर नहीं है।

वैदिक साहित्य एवं राष्ट्रीय एकता

डा० रंजना मिश्र, लखनऊ

आज आजादी के पश्चात् धर्मनिरपेक्ष समाजवादी संविधान बनाने के बाद भी देश के विखण्डन का भय व्याप्त हो गया है। जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद एवं आर्थिक असमानता आज राष्ट्रीय एकता में बाधक बन गये हैं। उदाहरणार्थ, भिवन्डी, अहमदाबाद, मेरठ, दिल्ली आदि स्थानों के दंगे, बिहार एवं उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों में हरिजनों एवं अन्य वर्गों पर अत्याचार, विभिन्न क्षेत्रों में पृथक् राज्य की माँग और इसके लिए आतंकवाद का प्रसार आदि की घटनायें हमारी एकता के बीच दरार बनकर खड़ी हो गई हैं। इसी प्रकार रामजन्म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद भी देश को तोड़कर बिखेरे जाने का ही एक प्रयास है। इस आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विघटनकारी प्रवृत्तियों से भारत की मौलिक एकता को अत्यन्त खतरा उत्पन्न हो रहा है।

वेदोक्त वनस्पतियों के वर्ग

अशोककुमार शर्मा, हरिद्वार

प्रस्तुत विषय वेदों में प्रमुखता के साथ प्रतिपादित है । ऋग्वेद का 'ओषधि' सूक्त (१०/९७) तथा अथर्ववेद का 'ओषधय:' सूक्त दोनों ओषधीरूप वनस्पतियों पर प्रकाश डालते हैं । सुश्रुत और चरक आदि ग्रन्थ भी औद्भिद या स्थावर रूप में वनस्पतियों का सम्यक् प्रतिपादन विभिन्न वर्गों के निधारण सहित करते हैं । "निघण्टु परम्परा" में भी इस विषय को सम्यक् स्थान मिला है । वेदोत्तर साहित्य में तो 'निघण्टु' शब्द औषधि या वनस्पतियों के गुण-धर्म पहचान सहित परिचय कराने वाले ग्रन्थों के लिए आया है । फिर वनस्पतियाँ मानव-जीवन के साथ-साथ आहार, यज्ञ और चिकित्सा जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की पूरक भी हैं ।

तमिल साहित्य में सूफी मत का प्रभाव

डा० सुन्दरम, मद्रास

उत्तर में सूफी मत का प्रारम्भ प्रेममार्गी सिद्धान्त का प्रचार—इस प्रचार में मुसलमानों का योगदान—तमिल साहित्य में शैव सिद्धान्त का प्रचार तमिल प्रदेश व कर्नाटक में शैव मत में समानता—नेपाली शैव और काश्मीरी शैव मत में तात्विक अन्तर—दक्षिण में प्रचलित शैव सिद्धान्त का स्रोत - काश्मीरी या नेपाली—नटराज दर्शन माणिक्कवाचकर का स्थान—बड़े ही शैवभक्त—उनकी भक्तिका प्रचार — माणिक्कवाचकर की शैव भक्ति—आत्मा का पुरुष के रूप में वर्णन —परमात्मा या परब्रह्म का स्त्री के रूप में वर्णन—भारत में प्रचलित स्त्री-पुरुष के सिद्धान्त से भिन्न—स्त्री कष्ट सहती है, कष्ट के उपरान्त पुरुष को प्राप्त करती है ।

भगवान महावीर की साधना-पद्धति

अरबिन्द कुमार, आरा

महावीर ने जिस साधना-पद्धति का अवलम्बन लिया था, वह अत्यन्त रोमांचक थी । वे अचेलक थे, तथापि शीत से त्रस्त होकर बाहुओं को समेटते न थे, अपितु यथावत् हाथ फैलाये ही विहार करते थे । शिशिर ऋतु में पवन जोर से फुफकार मारता, कड़कड़ाती सर्दी होती है, परन्तु महावीर खुले स्थान में नंगे बदन रहते और अपने बचाव की इच्छा भी नहीं करते । वहीं पर स्थिर होकर ध्यान करते ।

महावीर अपने निवास के लिए भी निर्जन झोंपड़ियों को चुनते, मार्ग्ने-पीटने पर भी वे अपनी समाधि में लीन रहते । आहार के नियम भी महावीर के बड़े कठिन थे । नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी थे ।

महाभारत के शान्तिपर्व में 'धर्म' का स्वरूप

डा० कुसुम दत्ता, जगाधरी

महाभारत ज्ञान का अक्षय भण्डार है। शान्तिपर्व, उसी विशाल ग्रन्थ का द्वादश पर्व है जिसमें भीषण युद्ध के पश्चात् शान्ति की स्थापना का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। युद्ध की विभीषिकाओं से क्लान्त मानवमन को शान्ति प्रदान करने वाला यह पर्व, धर्म के स्वरूप का सर्वांग रूप से प्रतिपादन करता है। महाभारत, जिसे पंचम-वेद एवं धर्मशास्त्र की संज्ञा से विभूषित किया गया है, के द्वादश पर्व के आधार पर धर्म के स्वरूप का विशद विवेचन करना प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

धर्म' जैसे बहुआयामी शब्द का अभिप्राय शान्तिपर्व में भी व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होता है।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में मानसिक सुझाव

डा० कमला देवी

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने प्राणियों के शरीर के भीतर स्थित इस मन' नामक अद्भुत तत्त्व के स्वभाव एवं शक्तियों का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया था। षोडश हिन्दू संस्कार इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। ये संस्कार गर्भ में व्यक्ति के पदार्पण करते ही प्रारम्भ हो जाते हैं तथा मृत्यु के उपरान्त भी कुछ काल तक चलते रहते हैं। आधुनिक जीवविज्ञान की इस धारणा के विपरीत कि गर्भ में चौथे या पाँचवें महीने चैतन्य आता है तथा हृदयगति बन्द होते ही समाप्त हो जाता है, भारतीय मनीषी यह मानते थे कि गर्भाधान काल में ही चैतन्य अर्थात् जीवात्मा गर्भ में आ जाती है, भले ही वह सुप्तावस्था में रहती हो।

वैदिक यज्ञ : पर्यावरण-परिशोधन विज्ञान

ब्रह्मचारी व्यासनन्दन, भागलपुर

आज भारत ही नहीं. समग्र विश्व में पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या सुरसा की भाँति मुँह बाए खड़ी है। प्रदूषण का राक्षस अपने फौलादी पंजे फैलाये बढ़ा आ रहा है। इस विषम परिस्थिति का सरलतम और योग्यतम हल 'वैदिक यज्ञ' है।

यज्ञ के हविर्द्रव्यों में 'घृत' ही प्रधान है। घृत का नाम 'आज्य' है। आज्य का अर्थ है - आ समन्तात् लोकान् जयति अनेन—अर्थात् इसके द्वारा लोक–लोकान्तरों के प्रदूषणरूपी असुर तत्त्वों पर, आँधी-तूफानों पर विजय प्राप्त होती है। गोघृत में यह क्षमता है कि भयंकर विष का प्रतिरोधक बन सके। दूसरे, इसमें भेदक शक्ति है।

संस्कृत द्वयाश्रय काव्यों की परम्परा और उसका वैशिष्ट्य

डा० सुधा शुक्ला, लखनऊ

श्लेष मूलक द्वयाश्रय काव्य-पद्धति का पूर्ण विकास नवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है, तथापि इस शैली के बीज समस्त संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक इस शैली को देखा जा सकता है। वेदों में इस पद्धति का एक दूसरा रूप प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेद सहिताओं की भाँति अनेकार्थक मन्त्र प्राप्त होते हैं। उपनिषद् साहित्य में भी ज्ञानकाण्ड की प्रधानता देते हुए अनेकार्थ मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, अनेकार्थकता की अभिव्यञ्जना के उपकरण अन्योक्ति, रूपक आदि अलङ्कार तथा शाब्दिक निरूक्तियों या सांकेतिक सख्याएँ हैं। इस प्रकार वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में अनेकार्थक पद्धति के वैदिक रूप प्राप्त होते हैं।

अग्नि विद्या

डा० रामाभिलाष त्रिपाठी, गाजीपुर

वेदों एवं उपनिषदों मे विद्याओं के अन्तर्गत अग्निविद्या का उल्लेख आता है। विभिन्न आख्यानों के माध्यम से अग्निविद्या का वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद में अग्निविद्या का वर्णन किया गया है। नचिकेता ने द्वितीय वरदान के रूप में स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत अग्निविद्या का ज्ञान यमराज से प्राप्त किया। बाद में इसे नाचिकेताग्नि से भी आख्यायित किया गया। इसी को अग्नि चयन भी कहा गया है। कठोपनिषद में "या इष्टका यावतीर्वा यथा वा" के द्वारा अग्नि चयन में ईंटों के वैशिष्ट्य का भी वर्णन किया गया है। उपनिषदों में वर्णित अग्निविद्याओं में यह अग्निविद्या या अग्नि चयन क्या है ? इसका मूल स्वरूप एवं प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तावित शोधपत्र में किया गया है।

महाविद्या तारा

डा० रमाशंकर मिश्र, लखनऊ

तान्त्रिक महाविद्याओं में काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी तथा कमला प्रसिद्ध हैं। इनमें तारा एक महत्त्वपूर्ण महाविद्या है। तारा की पूजा, मन्त्र, प्रातःकृत्य, गुरुपूजा, गुरुध्यान, श्रीपादुका, प्राचीन गुरुपरम्परा, मानस और यान्त्रिक पूजापद्धति, न्यास, वर्णमाला, पञ्चमकार, स्त्रोत, पुरश्चरण, रक्त अर्पण, प्रतिमा, दर्शन आदि का विस्तृत वर्णन 'तारा-तन्त्र' नामक ग्रन्थ में किया गया है। ग्रन्थ में भैरवी की जिज्ञासा का समाधान भैरव के द्वारा किया गया है। देवी उस मन्त्र को जानना चाहती हैं जिसके द्वारा बुद्ध तथा वशिष्ठ सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

न्यायाचार्य भासर्वज्ञ और उनका मोक्ष विधान

डा० कौशलकुमार पाण्डेय, लखनऊ

यदि न्यायदर्शन परम्परा का हम प्राचीन, मध्य और नव्य—इन तीन कालों में विभाग करें तो काल (नवीं शताब्दी की दृष्टि से भासर्वज्ञ का समय मध्यन्याय का अन्तिम चरण प्रतीत होता है। लेकिन अपनी न्यायपद्धति तथा विचार-परम्परा के द्वारा मध्यनैयायिकों (बौद्धों तथा जैनों) के वे अत्यन्त विरोधी हैं। इस प्रकार वह गौतम की आस्तिक परम्परा के पृष्ठपोषक के रूप में प्राचीन-न्याय से सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। लेकिन इस काल की पद्धति-सूत्रव्याख्या परम्परा को निर्वाह न करने के कारण वह प्राचीन-न्याय से भी सम्बद्ध होने की स्थिति में नहीं हैं। पिष्ट-पोषण की परम्परा से हटकर प्रकरण-ग्रन्थ लिखकर भासर्वज्ञ ने जो वैशिष्ट्य अपनाया वह नव्य-न्याय के लिए पथ-प्रदर्शक बना।

संस्कृत नाट्यशास्त्रों में कथावस्तु स्वरूप के विविध आयाम

डा० (श्रीमती) प्रीतिप्रभा गोयल, जोधपुर

संस्कृत की नाट्यपरम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसकी शास्त्रीय परम्परा में भरत-कृत नाट्यशास्त्र ही अद्यावधि उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। भरत एवं परवर्ती समस्त आचार्यों ने नाट्य की परिभाषा देते हुए अनुकीर्तन, अनुकरण, अनुकृति तथा अनुकार आदि जिन भिन्न-भिन्न शब्दों का कथन किया था, उन सभी शब्दों में एक ही तत्त्व स्वतः व्याप्त है और वह है कथावस्तु। नाट्य में अथवा लोक में भी किसी पात्र का नैरन्तर्यपूर्ण व्यवहार की कथानक का रूप ग्रहण कर पाता है। यह कथानक किसी भी देश तथा काल का एवं किन्हीं भी विशिष्ट व्यक्तियों के सन्दर्भ में घटित घटनाओं की विकसित होती हुई शृंखला से निर्मित होता है।

भाषा और लिपि के घटकों में पारस्परिक संवाद

डा० विजयकुमार वेदालंकार

सदियों से भाषा विचारों के संवहन का माध्यम रही है। भाषा को संरक्षण एवं स्थायित्व प्रदान करने के लिए ही लिपि की आवश्यकता महसूस की गई। इस तरह लिपि की उत्पत्ति भाषा की उत्पत्ति के बाद ही हुई। भाषा व्यक्त ध्वनियों का दूसरा नाम है। जबकि लिपि इन्हीं व्यक्त कर्णगोचर ध्वनियों को प्रतीकों के माध्यम से दृष्टिगोचर बनाती है। इस तरह लिपि और भाषा के घटकों में परस्पर सम्बन्ध सुनिश्चित हो जाता है।

लिपि किसी भी प्रकार की क्यों न हो, उसकी लेखनपद्धति का मूल आधार भाषा और लिपि के घटकों में पारस्परिक संवाद होता है।

उपनिषदों में वर्णित विभिन्न योगों में संन्यासयोग का स्थान

ईश्वर भारद्वाज, गुरुकुल कांगड़ी वि०वि० हरिद्वार

मनुष्य के आध्यात्मिक अभ्युत्थान को लक्ष्य में रखकर उपनिषदों के ऋषियों ने विभिन्न योग विधाओं की विवेचना प्रस्तुत की है। योग की विभिन्न परिभाषाएँ और विधाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं किन्तु निष्कृष्ट रूप में उसका एक ही लक्षण है– चित्त को यथाशक्ति स्वच्छ करके उसे मोक्ष की प्राप्ति के योग्य बना देना ही योग है। योग की विधाएँ भी मुख्य रूप से चार हैं— कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और सन्यासयोग। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यद्यपि ये चारों ही योग विधाएँ पूर्ण समर्थ हैं किन्तु संन्यासयोग इन सभी योगों का सिरमौर है। संन्यास के बिना न कर्मयोग सिद्ध हो सकता है, न ज्ञानयोग की प्राप्ति हो सकती और न भक्तियोग में दृढ़ता प्राप्त हो सकती है।

प्राच्य साहित्य में तप

डा० (श्रीमती) इन्दु शर्मा, कुरुक्षेत्र

प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ में मानवजीवन में वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है। क्योंकि ये ही वे साधन हैं जो ऋग्वेद की उक्ति 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' को चरितार्थ कराने में समर्थ हैं। इसे बूँद के सागर में विलय की लालसा से सिद्ध किया गया है। मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए विश्वकल्याण-चिन्तन की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'तप' शब्द की व्युत्पत्ति तीन धातुओं से संभव है। इस संक्षिप्त चर्चा के साथ-साथ तप के तीन प्रकारों का संक्षिप्त उल्लेख भी किया गया है।

ओंकार–एक अनुशीलन

लेखराम शर्मा, सरकाघाट (हि०प्र०)

जगत् की नियत प्रवृत्ति पराशक्ति की सत्ता का अनुमापक लिङ्ग है। वैदिक साहित्य, दर्शन एवं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर रचित स्तोत्रग्रन्थों में उस पराशक्ति के सहस्रों नामों का वर्णन है। पराशक्ति के लिये एक ऐसी संज्ञा जो गुण-कर्मानुसार उसके अनुरूप, शास्त्रानुमोदित तथा नाम एवं नामी दोनों ही हो एवं सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यों को अपने-आप में समेटे हुये हो, विश्व का सर्वप्राचीन वैदिक साहित्य जिसका समर्थन करता हो, अवश्य विचारणीय है। इस शोध-लेख में ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, व्याकरण, दर्शन एवं सन्त कवियों के काव्यों से प्रमाण प्रत्युपस्थापित करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सृष्टि के रचयिता की अद्वितीय तथा अत्युत्तम संज्ञा 'ओ३म्' ही है।

शैवउपनिषदों में जीवतत्त्व

अपर्णा रमन, फैजाबाद

शिव उपासनापरक शैव उपनिषदों में समस्त अध्यात्म तत्त्वों का विवेचन करते हुये जीवतत्त्व का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। शैवउपनिषदों में जीव को परमतत्त्व का ही एक अंश बताते हुए उसे अनन्त तथा विभु कहा गया है। इन उपनिषदों में जीव के लिये आत्मन्, जीवात्मा, पुरुष, हँस, सुपर्णा तथा अनीश आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए उसके सूक्ष्मतम तथा स्थूलतर—दोनों ही स्वरूपों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीवतत्त्व का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में जीव को अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला, सूर्य के समान प्रकाशवान्, संकल्प और अहंकार से युक्त, संकल्परूप बुद्धि के गुण के कारण और अहन्ता, ममता आदि अपने गुण के कारण ही सूजे की नोक और आराग्र के समान अतिसूक्ष्म स्वरूप वाला बताया गया है।

काश्मीरशैवदर्शन में आभासवाद

रामकुमार शर्मा, लखनऊ

भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों में 'सृष्टि-प्रक्रिया' के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। जिस प्रकार साँख्य में 'परिणामवाद' और वेदान्त में 'विवर्तवाद' की प्रतिष्ठापना की गई है उसी प्रकार से काश्मीरशैवदर्शन की 'सृष्टि-प्रक्रिया' को 'आभास-वाद' नाम से अभिहित किया गया है। आभास का तात्पर्य ईषद्भासन या किंचिद्भासन होता है। परिणामवाद और विवर्तवाद में स्थूल भेद यह है कि परिणामवाद में कारण का स्वरूप नष्ट होकर कार्य का रूप धारण करता है और विवर्तवाद में बिना नष्ट हुए। विवर्तवाद में कारण के परिवर्तन की प्रक्रिया को मिथ्याभास कहा जाता है क्योंकि उनके अनुसार कारण (ब्रह्म) का नाश या रूपपरिवर्तन सम्भव नहीं।

रुद्र एक विलक्षण देव क्यों ?

डा० मंजुला सहदेव, पटियाला

भारत की वसुन्धरा का कण-कण देवत्व से अभिभूत है। इसकी सभ्यता एवं संस्कृति को देवत्व से ओतप्रोत करने वाले प्राचीन अटल स्तम्भ वेद हैं। वेदों का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने प्रकृति के जिस रूप को भी मानवशक्ति की सीमाओं से अतिवर्ती अनुभव किया उसे ही देव अथवा एक महान् शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया। जो दृश्य उन्हें विस्मित कर गया वह भी देव संज्ञा से अभिहित हो गया। इस प्रकार मानवजीवन को सुचारू रूप में व्यवस्थित करने वाले प्राकृतिक नियमों को देवता मान करके उनसे प्रार्थनाएँ की गई।

उपनिषदों में दार्शनिकता : एक अध्ययन

डा० तिलक वर्मा, होशियारपुर

असंख्य प्राणियों की इच्छा के अनन्त विषयों को जिन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है, उनका नाम है अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। इनमें पहले के तीन पुरुषार्थ काल पाकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु नित्य होने से मोक्ष सदा बना रहता है। मोक्ष के नित्यत्व में 'न स पुनरावर्तते' (मुक्त पुरुष फिर संसार में लौटता नहीं) 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (जहाँ जाकर फिर लौटता नहीं, वह मेरा परम धाम है) ऐसे श्रुति स्मृति वाक्य प्रमाण हैं। यों तो उप-नि, उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से उपनिषद् शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'ब्रह्म ज्ञान' होता है।

वैदिक कर्मकाण्ड और विनियोग

प्रो० भवानीलाल भारतीय, चण्डीगढ़

वेद के अध्येताओं में यह मान्यता प्रचलित है कि प्रत्येक वेदमत्र का किसी न किसी कर्म में विनियोग किया जाना आवश्यक है। मध्यकालीन भाष्यकारों ने मंत्र के ऋषि, देवता, छंद आदि का निर्देश करते हुए उसका कर्मकाण्डीय विनियोग भी निर्दिष्ट किया है। प्रश्न यह है कि क्या मंत्र की रचना ही यज्ञ-यागादि के विभिन्न कर्मो के निष्पादन की दृष्टि से की गई है, या इनका कोई अन्य प्रयोजन भी था। यद्यपि मीमांसा तथा अन्य शास्त्रों के कतिपय वाक्यों से यह ध्वनि निकलती है कि वेदों का चरम तात्पर्य कर्मकाण्ड के विनियोजन में ही है, किन्तु मन्त्रों के अर्थों का तात्त्विक चिन्तन करने मे यह भी ध्वनित होता है कि इस वाङ्मय का मुख्य प्रयोजन तो जन समाज को बहुविध उपदेश देना तथा उनमें कर्तव्य-बोध को जागृत करना ही रहा होगा।

मम्मटकृत काव्यप्रकाश में काव्यात्मक तत्त्व विवेचन

डा० अमरसिंह, कुरुक्षेत्र

भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा मे आचार्य मम्मट का नाम अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया जाता है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश मे रस एवं ध्वनि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरत के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण से प्रारम्भ कर अलकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह, दण्डी, उद्भट, रीति सम्प्रदाय के आचार्य वामन, वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त आदि आचार्यो की ऐसी विशाल परम्परा विद्यमान थी जिन्होंने अपने वाग्वैभव से 'काव्यात्मा' के रूप मे अपने-अपने मन्तव्यों को प्रबल युक्तियों के आधार पर स्थापित किया था।

सर्वार्थसिद्धिगत कतिपय पारिभाषिक शब्दों की नियुक्तियाँ

डा० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की रचना की है। यह अत्यधिक उपयोगी एव महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से तत्त्वार्थसूत्र मे प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का रहस्य प्रकट होता है। आचार्य पूज्यपाद विक्रम की पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान् है। उनके ग्रन्थो की भाषा अत्यन्त सघन एव सुगठित है, जिससे उनके महान् वैयाकरण होने का सहज अनुमान किया जा सकता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी इस सर्वार्थसिद्धि नामक टीका मे पारिभाषिक शब्दो की प्रायः एक सतुलित परिभाषा प्रस्तुत की है।

डोगरी में सहायक धातु 'हो' का प्रयोग

शशि पठानिया, जम्मू

'हो' धातु अकर्मक धातु है। अन्य भारतीय भाषाओ की भाँति डोगरी भाषा में भी कालबोधक, अस्तित्वबोधक होने के साथ-साथ सहायक क्रिया के रूप मे भी योगदान देती है। डोगरी भाषा के सदर्भ मे इस धातु का विशेष योगदान यह है कि भाववाच्य की रचना मे इस धातु का ही प्रयोग होता है—भूतकाल तथा वर्तमानकाल की अभ्यासबोधक क्रियाओ की रचना भी इस धातु के सहयोग मे ही सम्पन्न होती है। जबकि हिन्दी मे भाववाच्य की रचना के लिए 'जा' धातु तथा अभ्यास पक्ष के द्योतन के लिए सभी कालो मे 'कर्' धातु ही प्रयुक्त होती है।

यमक और अनुप्रास की सीमारेखा : यमकाभास

डा० मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ, झालावाड (राजस्थान)

१– अर्थ वैभिन्य मे युक्त वे सभी पदगत आवृत्तियाँ जो स्थान-नियम का पालन नही करती, यमकाभास के अन्तर्गत आनी चाहिए। २– ऐसे सभी प्रयोग जहाँ युग्मक का कोई भी एक भाग सार्थक हो और दूसरा भाग निरर्थक हो, यमकाभास के अन्तर्गत आने चाहिए। ३– कोई भी ऐसा प्रयोग जहाँ युग्मक का कोई भी भाग निरर्थक हो यमकाभास के अन्तर्गत रखे जाने चाहिए। यह स्थिति अर्थ-तत्व से पूर्णत. स्वतत्र है। ४– ऐसे सभी प्रयोग जहाँ केवल एक वर्ण की सस्वर आवृत्ति स्थान-नियम का पालन करती है, यमकाभास के अन्तर्गत आने चाहिए। ५– व्यजन रहित शुद्ध स्वर की स्थान-नियम का पालन करने वाली आवृत्तियाँ भी यमकाभास के अतर्गत आनी चाहिए। यह एक काल्पनिक स्थिति है।

"वाक्यलक्षणविमर्श"

डा० अयोध्यादास श्रीवैष्णव, गौर (बस्ती)

अर्थबोधजनक वाक्य के स्वरूप की चर्चा प्राचीनकाल मे ही उपलब्ध है। संस्कृत वाङ्मय का अनुशीलन करने पर लोक व्यवहार में स्पष्टार्थ प्रतिपादक वाक्य के सम्बन्ध में आचार्यों में विवाद परिलक्षित होता है। प्रचलित वाक्यलक्षणों में मीमांसा सूत्रकार जैमिनि कृत "अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" तथा वार्तिककार कात्यायन कृत "आख्यातं साव्ययकारक विशेषणं वाक्यम्। एकतिङ्। वाक्यलक्षणों को विद्वानों ने प्राचीन शास्त्रीय वाक्य लक्षण माना है। महाभाष्यकार पतंजलि ने अपूर्व शब्द का प्रयोग करते हुए कात्यायनोक्त वाक्य लक्षण को आद्य वाक्य लक्षण माना है। वैयाकरणों के अनुसार यह प्राचीनतम शास्त्रीय वाक्य लक्षण है।

सोम देव का वैज्ञानिक स्वरूप

कालिन्दि राय, नई दिल्ली

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सनातन सत्यों के मूल हैं। वेद प्रतीकात्मक काव्य हैं। इसकी काव्यमयी भाषा अपने शब्दों और लय के साथ रहस्यात्मक अर्थ को उद्भाषित करती है। कहा भी गया है "विद्वान् गुह्य ढंग से शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे देव या दिव्य दृष्टियाँ अमर हो जाती हैं। वेद एक समुच्चयात्मक दृष्टि देता है और कहता है कि सभी देव ऐक्य में कार्य करते हैं। इन्द्र, मित्र, सूर्य, अग्नि, सोम, वायु, आदि सभी उन अनन्त सर्वव्यापक तथा मूलभूत तत्वों के प्रतीक हैं। विभिन्न देव अलग-अलग दिव्य प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। सोम औषधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है– पुष्णामि चौषधिः सर्वा सोमोभूत्वा रसात्मकः।"

जैनाचार्य श्री विजयसेन सूरि एवं बादशाह अकबर

कु० नीना जैन, शिवपुरी (म० प्र०)

आचार्य श्री विजयसेन सूरि सन् १५९२ को बादशाह के दरबार में पहुँचे। तत्कालीन पंडितों को सूरिजी की प्रतिभा से ईर्ष्या हुई जिससे उन्होंने जैनों पर विभिन्न आरोप लगाये जिनका खण्डन सूरिजी ने अपनी प्रखर बुद्धि से देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया। प्रसन्न होकर बादशाह ने उन्हें "सूरसवाई" की पदवी से विभूषित किया। तत्पश्चात् बादशाह ने सूरिजी के उपदेशों से प्रभावित होकर जीवदया के अनेक कार्य करवाये। जो व्यक्ति जन्म से मांसाहारी रहा था, जिसका प्रत्येक अवयव बाल्यावस्था ही से मांसाहार से परिपुष्ट हुआ था उसी व्यक्ति ने जैनाचार्य के सम्पर्क में आकर न केवल स्वयं मांसाहार का त्याग किया अपितु अपनी सत्ता के बल पर औरों से भी उसका पालन करवाया।

जैनयोग–आचार्य हरिभद्र सूरि की विशिष्ट देन

प्रो० जनेश्वर मौआर, आरा

परम सत्य की खोज, शोध और स्वानुभवयुक्त साक्षात्कार भारतीय तत्त्वचिन्तकों का शाश्वत विषय रहा है। इस सत्य के साक्षात्कार की साधना ही चिरन्तर काल से उसके शोधकों के जीवन की एकमात्र साधना रही है। जीवन के समस्त कर्तृत्व, पुरुषार्थ, योग्यता और सम्पूर्ण निहित आत्मशक्तियों को जागृत कर उन्हें मात्र और एकमात्र सत्य की ही साधना में लगाया है। तब फिर ऐसा वह तत्व कौन-सा? उसका स्वरूप क्या? और उसकी साधना किसलिए। ये प्रश्न स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होते हैं। जीवन के सारे ऐहिक दृश्य लौकिक सुखभोग और आकर्षणों के परे ऐसी वह कौन-सी वस्तु है जिसने आदिकाल से लगाकर सारे चक्रवर्तीत्व के राज्यवैभव को क्षणमात्र में ठोकर मारकर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को एकान्त वन, पर्वतो मे नग्न चर्चा, भरत चक्रवर्ती का राज्य वैभव के त्याग आदि अनेक उदाहरण हैं।

अर्धमागधी भाषा में प्राचीन भाषाकीय तत्त्व

डा० के० आर० चन्द्र, अहमदाबाद

अर्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे भाषाकीय प्रयोग मिलते हैं जो परवर्ती भाषा के प्रभाव में न आकर किसी न किसी प्रकार बच गये है और अपनी प्राचीनता को सुरक्षित रखे हुए हैं। यदि ऐसे प्रयोगों की परवर्ती प्राकृत भाषा के रूपों के साथ तुलना की जाय तो स्पष्ट होगा कि ये ही बचे हुए प्रयोग अर्धमागधी की प्राचीनता (अन्य परवर्ती प्राकृतों—शौरसेनी, महाराष्ट्री से) सिद्ध करते है और कभी-कभी उसे पालि के सदृश बना देते है।

बौद्ध नैयायिक पण्डित अशोक और उनकी कृतियाँ

डा० विजयरानी, कुरुक्षेत्र

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत बौद्ध न्याय की एक लम्बी परम्परा है, जिसका प्रारम्भ आचार्य दिङ्नाग से हुआ माना जाता है। इस परम्परा में बहुत से धुरन्धर बौद्ध-नैयायिकों के नाम सामने आते है, यथा—धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, भट्ट अर्चट, दुर्वेक मिश्र, शान्तरक्षित, कमलशील आदि। इसी परम्परा में एक नया नाम है पण्डित अशोक अथवा आचार्य अशोक का। प्रारम्भ में इस नाम के किसी बौद्ध आचार्य का ज्ञान विद्वत्समाज को नही था, किन्तु जब सर्वप्रथम महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन तिब्बत से बहुत-सा साहित्य हस्तलिखित प्रतियों के रूप में भारत लाए, तब उसमें रत्नकीर्ति के निबन्धों के बीच इनके भी दो निबन्ध लुप्तप्राय: पड़े हुए थे।

धर्माभ्युदय महाकाव्य में धर्म

डा० दिनेश कुमार सिंहल, पानीपत

नागेन्द्रगच्छीय-श्रीमद् उदयप्रभसूरिविरचित ग्रन्थ 'धर्माभ्युदय' एक श्रेष्ठ जैन संस्कृत महाकाव्य है। इस महाकाव्य का अपर नाम 'संघपतिचरित' है। इस काव्य में कविश्री उदयप्रभसूरि ने संघपति महामात्य वस्तुपाल द्वारा की गई संघयात्रा के माध्यम से धर्म का सुन्दर विवेचन किया है। अनेक धार्मिक कथाओं की संरचना करते हुए धर्म के अभ्युदय को सहज रूप में प्रस्तुत किया गया। सम्पूर्ण महाकाव्य में १५ सर्ग हैं। इसके प्रथम और पन्द्रहवें सर्ग में वस्तुपाल का वंशपरिचय, मन्त्री बनना तथा संघयात्रा का विवरण है। अन्य सर्गों में जैनधर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर तथा स्वाभाविक वर्णन है।

ऋग्वैदिक अंगिरा : एक विवेचन

डा. मुहम्मद इसराइल खाँ, गाजियाबाद

इस शोधपत्र में अङ्गिरा के विभिन्न निर्वचनों पर प्रकाश डाला गया है। अङ्गिरा का प्रयोग ऋषि, पितर आदि संदर्भों में किया गया है। प्रकृत पत्र उन सभी सन्दर्भों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के ऋषि सात हैं। उन सात ऋषियों में अङ्गिरा के स्थान तथा महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त अङ्गिरा के सूक्तों का सामान्य सर्वेक्षण प्रस्तुत कर सूक्त-विषयक विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अन्त में अङ्गिरा का छिट-पुट मन्त्रों में वर्णित प्रसंगों का अध्ययन किया गया है।

मालतीमाधव में साम्प्रदायिक सद्भावना

कृष्णचन्द्र झा, इस्पातनगर

विद्वद्विभूति रसानुभूति महाकवि नाटककार भवभूति अपनी नाट्यकला के लिये विश्रुत हैं। कालिदास के बाद भवभूति का ही स्थान गौरवपूर्ण है। इनके रूपकों को आधार मानकर निरन्तर नानाविध शोधकार्य चल रहे हैं। किन्तु आज की सामयिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिक संकीर्णता, कटुता, दुर्भावना, असहिष्णुता आदि अवांछनीय तत्वों के सहज दर्शन एवं अनुभव होते रहते हैं। इन सभी दुष्प्रभावी तत्वों के विरुद्ध विवेकशील समुदाय, सरकार एवं संस्थाएँ अनेक कार्यक्रम चला रही हैं और सम्प्रदायों में परस्पर सौमनस्य स्थापित करने के लिए अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि स्रोतों का सहारा लेती हैं।.........

ध्वनि (दैवी-वेदवाक्) विज्ञान

डा० नरहरि भट्टाचार्य, आसाम

ध्वनि पंचभूतों, देवों और आकाशी ऋषियों में सृष्टि रचना काल की विचित्र गतियों से उत्पन्न एकात्मिकता अविच्छिन्न रूप वाली अव्याकृत अर्थात् स्वर, व्यंजन, प्रकृति-प्रत्यय, पद, वाक्यरहित वाक् है। वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता मृतस्य नाभिः। तै.ब्रा. २/८/८/५ ऋत की प्रथम उत्पत्ति वाक् है जो अविनाशी है। वेदों की माता और अमृत का केन्द्र है। ऋत सृष्टि निर्माण समय में प्रभु के अभीष्ट तेज से उत्पन्न सत्याश्रित गति का नाम है। जब गति प्रारम्भ होती है तब वायु टकराव से ध्वनि होती है, जो ऋतात्मक अविनाशी वाक् कही जाती है, यह स्थूल सृष्टि की ध्वनियों से विभिन्न स्थूल वैविध्य से पृथक् सूक्ष्म अवस्था है।

वैदिक उषा का स्वरूप आचार्य यास्क की दृष्टि में

डा० ज्ञानप्रकाश शास्त्री, मेरठ

आचार्य यास्क की मंत्र व्याख्या शैली मूलतः आधिदैविक है। वे स्थानत्रय के आधार पर देवत्रय की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार अग्नि पृथिवीस्थानी, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी तथा सूर्य द्युस्थानी देवता हैं। निघण्टुकार ने 'उषस्' का समाम्नान अन्तरिक्षस्थानी तथा द्युस्थानी देवता नामपदों में किया है। आचार्य यास्क मध्यस्थानी 'उषस्' का निर्वचन विवासनार्थक उच्छ् से तथा द्युस्थानी उषस् का उच्छ् तथा वश् धातु से करते हैं। उणादिकोष तथा अन्य सभी कोषकार उषस् को उष् से व्युत्पन्न मानते है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार वश् से 'उषस्' की व्युत्पत्ति भ्रान्तिपूर्ण है। वे उच्छ को उषस् का मूल मानते हैं। ऋग्वेद में अनेकशः उषस् के साथ उच्छ् धातु के क्रियापद का प्रयोग देखने को मिलता है।

हरिद्वार जनपद में सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०-३४)

डा० के० के० शर्मा, सहारनपुर

महात्मा गाँधी के 'नमक कानून' तोड़कर 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन प्रारम्भ करने के प्रायः साथ-साथ हरिद्वार जनपद में भी आन्दोलन का शुभारम्भ हो गया। साबरमती आश्रम से १२ मार्च १९३० को प्रारम्भ किए गए 'डाँडी मार्च' के मध्य में ही हरिद्वार के देव शर्मा (आचार्य अभयदेव) ने गाँधी जी से भेंट की और गुरुकुल के पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। १९३० के गुरुकुल उत्सव पर ही सत्याग्रही जत्थे का श्रीगणेश हुआ। सवश्री देव शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, भीमसेन, जयदेव, दीनदयालु, रामेश्वर, गुरुदत्त, पूर्णचन्द्र, वासुदेव, विश्वनाथ, सत्यदेव और धर्मबीर नामक स्नातकों ने "यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः' के सन्देश के साथ हस्ताक्षर करके एक पत्र सभी को प्रेषित किया।

वैदिक यज्ञों के ऋत्विजों के लक्षण

डा० सुमनलता श्रीवास्तव, बरेली

वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान सम्पादित यज्ञों की ऋत्विजों की योग्यता के सन्दर्भ में ग्रन्थों के अन्तर्गत अनेकशः निर्देश प्राप्त होते हैं । ऋत्विज् बनने का अधिकारी एकभाव ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न वह व्यक्ति जो यज्ञों का सम्यक् ज्ञाता तथा वेद-वेदांग का विद्वान है । इस अनिवार्यता के अतिरिक्त यज्ञाचार्यों ने ऋत्विज् पद पर वरण किये जाने वाले व्यक्ति के कतिपय लक्षणों का उल्लेख किया है । सम्पूर्ण मत-मतान्तरों का सम्यक् आलोकन कर ऋत्विजों हेतु अपरिहार्य लक्षणों का विवेचन करना आवश्यक रहा है । इसी आवश्यकता पूर्ति हेतु ऋत्विजों में निहित लक्षणों का एक विवेचन प्रस्तुत शोध-पत्र में किया गया है । इसमें ऋत्विजों हेतु विहित अनिवार्य लक्षणों, यथा—आर्षेय, अनूयान साधुचरण, वाग्मी, अन्यूनांग, अनतिरिक्तां, द्वयसम, अनतिकृष्णा एवं अनतिश्वेत का उपशीर्षकों के माध्यम से विवेचन किया गया है ।

आर्यासप्तशती में वर्णित लोकवृत्त

डा० चित्तरंजन मिश्र, मुजफ्फरपुर

हमारे कवियों की दृष्टि राजमहल से कुटिया पर्यन्त व्याप्त है । लक्ष्मणसेन के सभा-कवि गोवर्द्धन की 'आर्यासप्तशती' में अनेक आकर्षक और सहजग्राह्य स्थल हैं जिनसे लोक व्यवहार और जनसामान्य के जीवन की अभिव्यक्ति होती है । यथा —प्यासे पथिकों को जल से तृप्त करती हुई ग्रामीण युवती का चित्र, धान्यमर्दन का दृश्य, खेत की रखवाली में सलग्न स्त्रियों की तत्परता, खेत में फसल की रखवाली के निमित्त फटे-पुराने वस्त्रों से आच्छादित धनुषधारी तृणनिर्मित पुरुषाकृति आदि कवि की विलक्षण लोकदृष्टि का परिचय देते हैं ।

अद्यावधि अज्ञात दार्शनिक रचना—दरसन छत्तीसी

डा० (श्रीमती) विद्यावती जैन, आरा

आचार्य कुन्दकुन्द जैन-संस्कृति के आद्य आचार्य के रूप में माने गए हैं । उन्हें महावीर-वाणी का महान् संरक्षक, भाष्यकार एवं समकालीन सामाजिक मानसिकता के अनुसार तत्कालीन भाषा-शैली में जिन शासन के एक समर्थ लेखक के रूप में एक सम्मानित स्थान मिला है। जैन-दर्शन का शायद ही ऐसा कोई पक्ष हो, जिस पर उन्होंने विशद् प्रकाश न डाला हो । यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों एवं लेखकों के लिए वे प्रकाश-स्तम्भ के समान बने रहे । दीर्घकाल तक आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में लोगों को बहुत कम जानकारी थी ।

प्रत्यय : स्वरूप एवं भेद

सुशील झा, बिहार

पाणिनी व्याकरण में प्रत्यय के लिए पाणिनी ने 'प्रत्ययः'; 'परश्च' लिखकर प्रत्यय को पर में होने की बात कही है। किन्तु 'बहुछ' प्रत्यय पर में नहीं होकर पूर्व में होता है। जगदीश तर्कालंकार ने शब्द-शक्ति-प्रकाशिका में प्रत्यय के स्वरूप पर विचार करते हुए इसका समाधान किया है तथा अपनी ओर से नई परिभाषा दी है। इसके माध्यम से जगदीश के मत की समीक्षा की गई है।

कंबरामायण की प्रासंगिकता

डा० पी. के. बालसुब्रह्मण्यन, मद्रास

कंबरामायण का रचनाकाल—सामाजिक वातावरण—तमिल संस्कृति की छाप—आदर्श जीवन की आवश्यकता - राम का मानवरूप में चित्रण - सफल लोकनायक—सीता का चित्रण—तमिल संस्कृति के अनुरूप गुह, शबरी, विभीषण के प्रति व्यवहार और आदर्श—बालिवध में नवीनता—रावण-वध में कंबन की मौलिकता - आदर्श व अनुकरणीय आदर्श—वर्तमान प्रसंग के अनुकूल—तुलसी के रामचरितमानस से तुलना।

रत्नत्रय में सम्यग्यदर्शन का महत्त्व

प्रो. नन्दकुमार राय, आरा, बिहार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में यथार्थ सुख का कारण 'मोक्ष' ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है और श्रद्धान्, ज्ञान तथा चरित्र रूप 'रत्नत्रय' उसका स्वरूप है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक्-चरित्र - मोक्षप्राप्ति के इन तीन साधनों को 'रत्नत्रय' कहा गया है। आचार्य 'उमास्वाति' विरचित 'तत्त्वार्थ सूत्र' के प्रथम अध्ययन के प्रथम सूत्र में मोक्षप्राप्ति के तीन मार्ग 'सम्यग्यदर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्गः' को दर्शाया गया है। ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

'रत्नत्रय' में आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व 'सम्यग्यदर्शन' का है। सम्यग्यदर्शन का अर्थ है तत्त्वार्थ का सच्चा श्रद्धान्। अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों का स्वरूप निश्चित ही तथ्य रूप है। इस प्रकार का श्रद्धान् एवं उनका परमार्थ रूप से ग्रहण करना 'सम्यग्यदर्शन' है। सम्यग्य-दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति ही वास्तव मे भ्रष्ट है, क्योंकि उसे तीन काल में भी निर्वाण सम्भव नही है। चरित्रहीन तो कदाचित सिद्ध हो भी सकता है किन्तु दर्शनहीन कभी भी सिद्ध नहो हो सकते। वस्तुतः सम्यग्यदृष्टि जीव दृढ़ श्रद्धान् वाला होता है। सम्यग्यदर्शन वह विवेक-सूर्य है जिसके उदित होने पर मिथ्यात्व आदि अपने आप भाग जाते हैं।

त्र्यम्बकेष्टि अनुष्ठान

लालताप्रसाद द्विवेदी, सुलतानपुर (उ प्र.)

हविर्यज्ञ की प्रकृतियाग (दर्शपूर्णमास) पर आधारित चातुर्मास्य यज्ञ में साकमेध पर्व के अन्तर्गत त्र्यम्बकेष्टि अनिवार्यतः अनुष्ठेय है। जिसके अनुष्ठान की अनिवार्यता को देखते हुए प्रायः सभी याज्ञिक ग्रन्थ इसका अनुष्ठान प्रस्तुत करते है। इस उपेष्टि का सापेक्षिक स्वरूप समग्र श्रौत साहित्य में किस प्रकार निरूपित है, प्रस्तुत शोधपत्र का यही मुख्य विवेच्य तथ्य है। जिसके आधार पर इस यज्ञ की अनुष्ठानिक व्यवस्था का सर्वतोभावेन निरूपण किया गया है। इससे त्र्यम्बकेष्टि से सम्बन्धित सामान्य धारणा का अवबोधन सम्भव होगा।

संस्कृतसाहित्य में प्रकृति-वर्णन

डा० हंसाबहन हिंडोचा, गुजरात

प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। सृष्टि के उषःकाल से मानव और प्रकृति का नित्य और अभिन्न सम्बन्ध रहा है। समग्र मानव-जाति के लिए प्रकृति सिर्फ प्रेरक ही नहीं किन्तु मानव के भौतिक और साँस्कृतिक विकास की आधार है।

प्रभावक और प्रेरक प्रकृति मे संस्कृत कविता आरम्भ मे ही अनुप्राणित हुई है। प्रकृति के मनोरम चित्रों से मण्डित हुई है। प्राकृतिक सौदर्य के आराधक और भावुक सस्कृत कवियों ने प्रकृति-विश्व के वृक्षों-तपोवनों, सरिता-सागर, सूर्य-चन्द्र, ऋतुएँ, पर्वतों, पशु-पक्षियों इत्यादि के आँतर-बाह्य सौंदर्य का दर्शन किया, उनके रूप-गुण-समृद्धि का मनोरम वर्णन किया। संस्कृत कवि प्रकृति के पुजारी है, प्रकृति के वैतालिक है।

विद्यापति के पदावली पर गीतगोविन्द का प्रभाव

श्रीमती सुधा झा, दरभगा

संस्कृत काव्य परम्परा में अनेक ऐसी रचनाएँ है जिन्होने देशकाल निरपेक्ष भाव से भारतीय जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया। अनेक रचनाएँ काल को चुनौती देते हुए अब तक भारतीय संस्कृति एव समाज की अमूल्य निधियो के रूप में अस्तित्व में है। ऐसी ही रचनाओं में अन्यतम जयदेव का गीतगोविन्द है। भारतीय संस्कृति के अपकर्ष काल के प्रारम्भ में लिखे गये गीत-गोविन्द ने भारतीय जनमानस को जितना प्रभावित किया उतना अन्य रचनाओं ने नही। अनेक कारणों से नीरस एवं निर्जीव हो रहे भारतीय समाज को संजीवनी शक्ति प्रदान करने का काम जयदेव के गीत-गोविन्द ने किया। विशेषतः उत्तरभारत को कृष्णमयी काव्य परम्परा की ओर अग्रसर करने का श्रेय जयदेव के गीत-गोविन्द को ही है।

योग-दर्शन और मनोचिकित्सा

डा० सुधा जैन, रोहतक

'मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।" योगदर्शन के अनुसार अनियन्त्रित मन दुःख और अवनति का कारण है तथा नियन्त्रित और संयमित मन परम पुरुषार्थ का साधक है। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों में फंसा मन सदैव विचलित रहता है। योग के अनुसार मनुष्य को इन दोनों अवस्थाओं में उदासीन रहना चाहिये जिससे वह सुख के समय शिखर पर और दुःख के समय रसातल में न पहुँच जाए। सुख-दुःख जन्य प्रतिक्रियाओं को नियन्त्रित करने से मनुष्य का चित्त शान्त, सौम्य और धीर स्वभाव वाला बन सकेगा। यह तभी सम्भव हो जब सुख-दुःख के साधनों के प्रति चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो।

इमेज और स्वाभावोक्ति–भाविक में बिम्ब विधान

अजीत ठाकोर, वल्लभ विद्यानगर

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आइडिया एवं इन्टॅपट से तथा भारतीय काव्यशास्त्र में भाव–उर्मि-चित्तवृत्ति का विभावादि की सन्दर्भयोजना से रस में रूपान्तरण की प्रक्रिया की महिमा है। दोनों परम्पराओं में भावों–उर्मियों का विरेयन एवं ब्रह्मानन्दसहोदर आनद जैसे काव्य प्रयोजनों में भी दृष्टि-भेद है। इसके मूल में दोनों परम्पराओं के जीवन, जगत् एवं साहित्य के अभिगम में स्थित मूलगत भेद है। फिर भी दोनों परम्पराओं के बीच से सधिस्थान–मीटिंग पोइन्ट्स भी है। सीम्बल एवं मेटाफर की तरह इमेज भी पोएटिक डीवाइस है। इमेज अर्थात् इन्द्रियबोध के माध्यम से उद्भूत संवेदन का पुनः निर्माण। यह वाणी का दर्शनकेन्द्री अलंकरण है।

वाल्मीकि-रामायण का प्रमुख रस–एक विवादास्पद प्रश्न

अशोककुमार, पटियाला

वाल्मीकि–रामायण भारतीय साहित्य की अमर रचना है। इसमें राम के सम्पूर्ण जीवन की कथा काव्यरूप में निबद्ध है। जहाँ इस काव्य के कर्ता आदिकवि वाल्मीकि के जीवनविषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं वहाँ इसके रचनाकाल एवं मूल स्त्रोत के विषय में भी विद्वान वैमत्य हैं। इस काव्य की कथा को तत्प्रचलित आख्यानों पर आधारित माना जा सकता है। एतदाख्यानमादुष्यं पठन् रामायणं नरः। (१-१-९९)

जहाँ इस काव्य में तत्कालीन संस्कृति परिलक्षित होती है, वहाँ इसमें सभी साहित्यिक पक्षों का भी समावेश है। रामायण का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने इसमें प्रायः सभी रसों का प्रयोग किया है।

भासकालीन समाज

जितेन्द्र पाठक, मुजफ्फरपुर

साहित्य समाज का दर्पण है और किसी भी साहित्य की पूर्णता तत्कालीन समाज के यथावत् तथा कल्याणकारी चित्रण में है। महाकवि भास की कृतियाँ भी इसके अपवाद नहीं हैं। संस्कृत साहित्य के प्रथम नाटककार भास ने भी अपनी त्रयोदश नाट्यकृतियों में तत्कालीन समाज का पर्याप्त चित्रण किया है। भारत की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्थितियों पर प्रकाश डाला है। इनकी रचनाओं से तत्कालीन भारत की वर्ण-व्यवस्था, आर्थिक विषमता, वैवाहिक दशा तथा राजनैतिक स्थितियों की जानकारी मिलती है। भास ने यह स्पष्ट किया है कि उस समय समाज में निर्धनों का कोई स्थान नही था।

मुद्राराक्षस नाटक की प्रस्तावना पर टिप्पणियाँ

डा० सीताराम दांतरे, इन्दौर

मुद्राराक्षस नाटक की प्रस्तावना में चन्द्रग्रहण के उल्लेख के आधार पर विद्वज्जनों ने विशाखदत्त के समय को निर्धारित करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त नाटक के इस महत्वपूर्ण अंश का विवेचन नही हुआ है। इस पत्र मे निम्नांकित विन्दुओं पर नाटक की प्रस्तावना का विवेचन है :—१–ज्योतिःशास्त्र म कृतश्रम की घोषणा करने वाले विशाखदत्त ने अनेकत्र ज्योतिष सम्बन्धी त्रुटियाँ की है। २–चन्द्रग्रहण वास्तविक घटना न होकर नाटकीय कल्पना मात्र है जिसे श्लेष के चमत्कार द्वारा इतिवृत्त के पूर्वाभास के लिये प्रयुक्त किया गया है। ३–प्रस्तावना से तत्कालीन सामाजिक अवस्था एवं रीतियो का बहुधा परिचय मिलता है। ....

आशौच निर्णय का सार

डा० ठाकुरदत्त जोशी, जोधपुर

जन्मना बिहार प्रान्तीय कर्मणा राजस्थान वास्तव्य समीक्षा चक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी ने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई फलस्वरूप दो सौ से भी अधिक ग्रन्थरत्नों का प्रणयन कर डाला। वेद-वेदाङ्गो के अतिरिक्त धार्मिक रहस्यो के साथ ही भारतीय समाज के संस्कारों का भी विवेचन विस्तारपूर्वक किया। 'आशौच-पञ्जिका' नामक कृति मे उन्होंने जन्माशौच एवं मरणाशौच को प्राचीन स्मृतियों के आलोक में विवेचित किया है। आशौच का कारण जन्म एव मृत्यु है। उन्होने यह अङ्गीकार किया है कि आशौच का सम्बन्ध साक्षात् माता और पुत्र में रहता है किन्तु परम्परया यह माता तथा पुत्र के सबंधियों में भी संक्रान्त हो जाता है।

पं० रामनाथ शर्मा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० शिवचरण शुक्ल, रायबरेली

उत्तर प्रदेश का जनपद रायबरेली प्रारम्भ मे ही सस्कृत मनीषियों, मुनियो तथा महर्षियो की तप:भूमि रही है । महर्षि गर्ग, महर्षि डालभ महर्षि गोकर्ण, महर्षि नेमिधर प्रभृति तपस्वियो ने अपनी तपस्या से इसे परिपूर्ण किया है ।

पं० रामनाथ शर्मा, प० रघुनन्दन शर्मा, आचार्य रुद्रप्रसाद अवस्थी, पं० शीतला प्रसाद शर्मा, आचार्य प० भगवनप्रसाद काव्यतीर्थ आदि सस्कृत विद्वानो ने अपनी कृतियों से इस जनपद की कीर्ति को देदीप्यमान करते हुए सस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि की है । आचार्य प० रामनाथ शर्मा (स० १९५६-२०२८) राधा सम्प्रदाय के विख्यात भक्त और शिरोमणि सस्कृत कवि थे ।

चार्वाक दर्शन में तत्त्व-मीमांसा

भारतीय दर्शन के मुख्यत दो विभाग है—आस्तिक एव नास्तिक । नास्तिक दर्शनो मे चार्वाक दर्शन प्रमुख है । इस दर्शन का वर्णन सर्वदर्शनसग्रह, सर्वसिद्धान्तसग्रह, स्याद्वादमजरी, षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्था म मिलता ह । इस दशन के प्रमुख सिद्धात जडतत्त्ववाद, देहात्मवाद, परलोकनिषेध, वेदो का खण्डन, अनीश्वरवाद, धम तथा मोक्ष का खण्डन आदि हे । इस मत के प्रणेता वृहस्पति ऋषि कहे जाते है । इस दर्शन को बार्हस्पत्य, लोकायत, नास्तिक आदि नामो से भी पुकारा जाता है ।

चार्वाको के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड तत्त्वो से जगत् की रचना हुई है ।

आ. विश्वनाथ द्वारा कालिदास साहित्य में दोषदर्शन

डा० अभिमन्यु, पटियाला

आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' के रूप मे काव्य की परिभाषा दी है । उनकी मान्यता है कि रस काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है, उससे विरहित पदो को काव्य के रूप मे अङ्गीकार नही किया जा सकता हे । इसका उत्कर्षापकर्ष गुणदोषो पर निर्भर करता है । गुणो से रस उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है और दोषो के कारण उसका अपकर्ष होता है । उन्होने दोषो का सामान्य लक्षण देते हुए कहा है 'रसापकर्षका दोषा:'—अर्थात् जिन काव्यधर्म्मविशेषो से रस का अपकर्ष होता है वे दोष कहलाते है । उनके अनुसार दोष पाँच प्रकार के है—पद, पदाँश, वाक्य, अर्थ और रसदोष । उन्होने साहित्यदर्पण के सप्तम् परिच्छेद मे दोष विवेचन करते समय कालिदास साहित्य से लगभग २० पद्य उद्धृत किये है ।

अभिज्ञानशाकुन्तल में नायकगत सात्त्विक गुण

डा० उर्मिला श्रीवास्तव, इलाहाबाद

संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने सात्त्विक अभिनय के प्रसङ्ग में नायक में उपलब्ध होने वाले कतिपय ऐसे गुणों का विवेचन किया है जो नायक में साधारण रूप से प्राप्य मधुरता, दया, दान, विनय आदि गुणों से पर्याप्त भिन्न हैं और जिन्हें सात्त्विक गुण की संज्ञा दी गई है।

आचार्य भरत के अनुसार चित्त की समाधि दशा में सत्त्व की निष्पत्ति होती है और इस अवस्था में जो भी गुण-धर्म नायक में परिलक्षित होते हैं उन्हें सात्त्विक गुण कहा जाता है। ये सात्त्विक गुण संख्या में आठ है—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज।

उत्तररामचरितम् में शैक्षिक तत्त्व

कस्तुरी माइत्रा, मुंगेर

भवभूति विरचित 'उत्तररामचरितम्' संस्कृत रूपकों में अनेक दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है। नाट्यशास्त्रीय तत्त्व-वस्तु, नेता एवं रस मे तो यह नाटक अनुपम है ही, साथ ही जीवन-जगत् से भी यह बहुत निकट है। कवि की कमनीय कल्पना में मानवोपयोगी विविध तत्त्वों का समन्वय मणि-काँचन संयोग प्रस्तुत करता है। शिक्षा सम्बन्धी कतिपय विषय 'उत्तररामचरितम्' के बड़े महत्त्वपूर्ण है। वाल्मीकि आश्रम में शिक्षण पद्धति का आदर्श स्वरूप वर्णन कर कवि ने अधुनातन समाज के लिए भी इसे उपयोगी बना दिया है। औपचारिक और अनौपचारिक दोनों शैक्षणिक तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। इस शोध लेख के माध्यम से ये ही तत्त्व प्रकाश में लाये गये हैं।

ऋक्संहिता में पत्नी के वाचकशब्द

डा० शशि तिवारी, नई दिल्ली

ऋक्संहिता में नारीवाचक शब्दों की संख्या पर्याप्त बड़ी है। शशीयसी, रहसू, अप्सरा, वध्रिमती, प्रफर्वी, साधारणी—जैसे कुछ शब्द यदि विशेष नारी के बोधक हैं, तो नारी, स्त्री, योषा, योषणा इत्यादि शब्द सामान्य नारी के लिए बहुप्रयुक्त हैं। स्त्रीसामान्य के लिए प्रयुक्त शब्दों से पत्नीवाचक शब्दों को पृथक् करना कदाचित् कठिन है, तथापि उनको प्रयोग और अर्थगत विश्लेषण के आधार पर दो भागों में रखा जा सकता है—(१) स्पष्टतः पत्नीवाची शब्द—वधू, जाया, पत्नी, सुपत्नी, ग्ना, जानि। (२) प्रसङ्गतः पत्नीवाची शब्द—जनि, जनी, स्त्री, योषा, योषणा, नारी, वेना, मेना।

संस्कृतलोककथा साहित्य में लोक एवं उच्चवर्ग की दिनचर्या

गोपाल शर्मा, उदयपुर

संस्कृत लोककथा साहित्य के समाज में पारम्परिक जीवन जीने वाले "लोक" की दिनचर्या उच्चवर्ग की दिनचर्या का साधन थी। "लोक" के अधिकांश भाग की दिनचर्या उच्चवर्ग के जीवन को सुकुमारता, विलासिता एवं उसके सुख-ऐश्वर्य की अभिवृद्धि के साधन समुपलब्ध कराना थी एवं "लोक" का किंचित भाग अपनी जीविका के लिए श्रम का कोई व्यवसाय कर रहा था। "लोक" की दिनचर्या तो क्या उसके जीवन पर भी उसका स्वयं का सम्पूर्ण प्रभुत्व नहीं था। वह तो सामंतवादी, ऐश्वर्यसम्पन्न मशीन का ऐसा पुर्जा था जिसकी दिनचर्या मशीन की दिनचर्या पर निभर करती थी। यद्यपि उस मशीन की गति में "लोक" महत्वपूर्ण अंग था परन्तु जानबूझकर उसके महत्व को कदापि स्वीकार नही किया गया।

आर्यशूरकृत जातकमाला की आचारदृष्टि

डा० सूर्यप्रकाश व्यास, वाराणसी

आर्यशूरकृत जातकमाला अथवा बोधिमस्त्वावदानमाला (ई० ३५०–४००) में बोधिसत्त्व के विविध जन्मों की ३४ कथाओं के माध्यम से नीति और सदाचार के उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं। इन कथाओं और उपदेशों मे व्यक्त आचारदृष्टि का स्वरूप क्या है, बौद्ध दर्शन के मत-मतान्तरों से उसका कैसा सम्बन्ध है तथा स्वतन्त्ररूप से विचार करने पर इस आचारदृष्टि की क्या प्रासंगिकता है · इन्हीं बिन्दुओं का विवेचन इस शोधलेख का प्रतिपाद्य है।

भगवदज्जुकम् प्रहसन में चित्राभिनय

डा० हर्ष मेहता

आचार्य भरत ने चित्राभिनय का स्वतन्त्र रूप से स्वरूप बताते हुए कहा है कि :–

> अङ्गाभिनयनस्येह यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
> अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः ।। ना०शा०—२६–I

चित्राभिनय का आधार यद्यपि आङ्गिक अभिनय ही है फिर भी इसका अपना पृथक स्वरूप इस अर्थ में है कि वे सब पदार्थ, समय-निर्देश आदि की अभिव्यक्ति जो मात्र आङ्गिक से सम्भव नहीं, उसके अतिशयाभिव्यंजना सामर्थ्य से युक्त जिस सिद्धान्त का आङ्गिक के आधार पर विकास, जिससे चित्रात्मकता से पूर्ण दृश्यों को उपस्थित किया जा सके तथा नटों की लौकिक सीमाएँ व प्रयोग मे अपूर्णता का कारण न बन सके, इन सबके लिए जिस युक्ति का आविष्कार किया वही चित्राभिनय है।

मेघदूत में नायिकालंकार

डा० आनन्दकुमार श्रीवास्तव, इलाहाबाद

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने स्त्रियों में युवावस्था में उत्पन्न होने वाले अनेक धर्मों का उल्लेख किया है जिन्हें प्रायः नायिकालङ्कार अथवा योषिदलङ्कार कहा गया है। कुछ आचार्य इन यौवनस्थ धर्मों को शृङ्गारचेष्टा अथवा सम्भोग-भूमिका भी कहते हैं। इन देहधर्म अथवा अलङ्कारों को आचार्य प्रायः तीन श्रेणियों में रखते हैं—अङ्गज, अयत्नज और स्वभावज । ये सात्त्विक अलङ्कार कहलाते हैं, हालाँकि, स्वभावज अलङ्कारों को छत्रिन्यायेन ही सात्त्विक कहा जा सकता है। इनमें से कुछ धर्म ऐसे हैं जो पुरुषों में भी दृष्टिगत होते हैं। वैसे तो नायिकाओं में असंख्य अलङ्कार पाये जाते हैं फिर भी आचार्यों ने इनकी परिगणना का प्रयास किया है।

अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में नारी-चरित्र : एक समीक्षा

अमरनाथ मिश्र, मुंगेर

संस्कृत वाङ्मय में नारी-चरित्र बड़ा ही महत्त्व रखता है। वैदिक काल से लेकर आज तक संस्कृत के मनीषियों ने इसके महत्त्व को उजागर किया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' कहकर नारी को गौरव प्रदान किया गया है। महाकवि कालिदास ने भी अपने काव्यों में नारी को विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में नारी-चरित्र का एक विशेष महत्त्व इसलिये है कि यहाँ महाकवि ने केवल इसके आदर्श उत्कृष्ट स्वरूप को ही प्रस्तुत नहीं किया, अपितु जीवन-जगत् की यथार्थता के बीच निष्पक्ष सामाजिक दृष्टि से नारी-चरित्र को अंकित किया है तथा इसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

भगवान् विष्णु

डा० रमेशचन्द्र गुप्त, वाराणसी

सबसे पहले विष्णु शब्द की व्याख्या करेंगे। विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश्-प्रवेश करना अथवा अश्-व्याप्त करना धातु से की गई है—'विष्णुर्विशतर्वा व्यश्नोतर्वा'। विष्णु पुराण में भी 'विश्' धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में व्याप्त है। ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा गया है और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य ही विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं। ऋग्वेद में 'स्यन्दन्तांकुल्पाःविषिताः पुरस्तात्' कहकर विष्णु की इन्द्र से तुलना की गई है। कठोपनिषद् में विष्णु को व्यापक या व्यापनशील कहा गया है।

पौराणिक रूपकों में नायक

डा० अरविन्द मोहन

नाट्य का मानवजीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मनुष्य के प्रगतिपथ पर जिस प्रकार उत्थान तथा पतन की क्रिया चलती रहती है उसी प्रकार साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति रूपक वाङ्मय में भी यह क्रम चलता रहता है। संस्कृत में उपलब्ध विपुल नाटक साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनकाल से ही नाटकों की एक परम्परा बनी हुई थी। उक्त परम्परा में भवभूति तक का नाट्य साहित्य विकास एवं समृद्ध अवस्था का सूचक है। इसी कारण भवभूति तक के नाट्य साहित्य को स्वर्णयुग के नाम से अभिहित किया गया है क्योंकि भवभूति तक कवियों ने अपनी कृतियों में भावात्मकता तथा कलात्मकता का सन्तुलित रूप प्रस्तुत किया।

कालिदास के शाप-प्रयोग

गोविन्द गन्धे, इन्दौर

महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं की कथावस्तु प्रायः पुराणग्रन्थों से ली है, किन्तु लोक की यथार्थता से वे दूर नहीं हुए हैं। जहाँ उन्होंने अलौकिक तत्त्वों का प्रयोग किया है वहाँ कुछ विशेष उद्देश्य रहा है। शाप का प्रयोग भी उनमें से एक है जिसका प्रयोग रघुवंश, मेघदूत, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम में हुआ है।

इन प्रयोगों में से केवल अभिज्ञान शाकुन्तलम में समक्ष में शाप आया है। वह विष्कम्भक रूप सूच्यांश में होते हुए भी केवल सूच्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वर्तमान-कालीन है। अन्यत्र शाप की घटना पूर्व में घट चुकी होती है, उस संदर्भ मे केवल उल्लेख आया है।

संस्कृतसाहित्य में लहरी काव्य विधा

कु० अर्चना जोशी, इन्दौर

संस्कृत साहित्य में लहरी काव्य को पृथक् विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। अथवा लहरी काव्य को स्तोत्र का एक रूप माना गया है। किन्तु लहरी काव्य की सुदीर्घ परम्परा एवं बृहत् साहित्य इसे एक पृथक् व स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। आवश्यकता उन तत्त्वों के चिन्तन की है जो इस काव्यविधा को स्तोत्रकाव्य अथवा अन्य किसी काव्यविधा से भिन्न स्वरूप में स्थापित करते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में लक्ष्य रचनाओं का अनुशीलन करते हुए लहरी काव्य के उन सामान्य एवं विशिष्ट तत्त्वों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। लहरी काव्य एक भावधारा से अनुस्यूत होते हैं।

तन्त्रशास्त्र में बगला शक्ति

कमला राय, ग्वालियर

'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेनेति तन्त्रम्"

जिससे ज्ञान का विस्तार हो वह तन्त्र है। व्यापकतानुसार न्यायतन्त्र, सांख्य-तन्त्र, चिकित्सातन्त्र हैं। भिन्न अर्थ में तन्त्र शब्द को उस शास्त्र से अभिप्रेत मानते हैं जिसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है। इसके लिये योग उपासना चक्र मन्त्रादि का वर्णन किया गया। तन्त्रों में देवता के रूप, गुण, कर्म आदि का वर्णन होता है। देवताविषयक मन्त्र उपासना के पाँच अंग पटल पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोज की व्यवस्था मिलती है। इन विभिन्न साधनाओं का जिनमें वर्णन है वे शास्त्र आगम या तन्त्रशास्त्र कहलाते हैं।

भीष्म की उपदेश विधि

शान्तिपर्व महाभारत के प्राचीनतम अंशों में स्वीकार किया गया है। समस्त पर्व बिशेषरूप से मोक्षधर्मपर्व भीष्म के उपदेशों के लिए प्रसिद्ध है। मोक्षधर्मपर्व पर सर्वाधिक प्रभाव भगवद्‌गीता का है। कहीं-कहीं श्लोकों का प्रत्यक्षत: आदान भी कर लिया गया है। इसीलिए यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि दोनो में क्या समानता अथवा किस स्तर तक वैभिन्न्य है। स्पष्टत: व्यास का उद्देश्य जीवन के दो विभिन्न स्थलों पर मोक्ष की उपादेयता को सिद्ध करना है। उल्लेखनीय है जहाँ भगवद्‌गीता का उपदेश युद्ध से पूर्व का है वहीं मोक्षधर्मपर्व का उपदेश युद्ध के पश्चात् दिया गया है। भीष्म के संवाद-शैली वाले उपदेशों में मोक्ष अपने सामाजिक परिवेश के साथ जीवन्त हो उठा है।

शक्ति और अचित् तत्त्व

डा० सुनीता गुप्ता, दिल्ली

त्रिक्‌दर्शन के आधार पर जगत् वाचक और वाच्य दो भेदों में विभक्त है। त्रिक् शैवशास्त्रों के मतानुसार यह जगत् परमसत्ता का संकुचित रूप है। विश्वाकृत होने पर वह परमसत्ता ही अपने को चेतन और अचेतन दो रूपों में विभाजित करती है। जो चेतन रूप है, उसे वेदक और जो अचेतन है उसे वेद्य बतलाया गया है, अर्थात् यह जड़वर्ग चेतनरूप वेदक का वेद्यस्वरूप है।

यहाँ हमारा विवेच्य विषय प्रपञ्चकारिणी शक्ति और अचित् तत्त्व है। वस्तुत: यह अचित् तत्त्व क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसके कार्य क्या है? इसका चेतन शक्ति से क्या सम्बन्ध है? ये सब काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि से विवेच्य विषय है।

कालिदासीय साहित्य में प्रकृति का मानवीकरण

सान्त्वना, मुजफ्फरपुर

प्रकृति का मानव-समाज के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है और साहित्य समाज का दर्पण होता है। ऐसी स्थिति में कोई भी साहित्य अपनी पूर्णता के लिए प्रकृति से सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता। महाकवि कालिदास की साहित्यिक रचनाएँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। इनके प्रत्येक ग्रन्थ में प्रकृति का मानवीकरण पाया जाता है। अन्तर्जगत् के सौंदर्य को बहिर्जगत् में देखते हुए कालिदास ने प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया है। परिणामतः इनका प्रकृति-वर्णन उन्नत कोटि का है। इनकी प्रकृति केवल जड़ प्रकृति नहीं प्रत्युत उसका प्रत्येक अंश पूर्णतः चेतन है और उसमें मानव की ही भाँति सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-शोक, ध्यान और चिन्ता की अनुभूति होती है।

'संक्षिप्यतां यवनिका' : एक विवेचन

डा० श्रीमती माया मालवीय, इलाहाबाद

प्राचीन भारत में संस्कृत नाटकों के मंचन में पर्दे के प्रयोग की परम्परा बड़ी पुरानी है। कपड़े के 'पर्दे' के अर्थ में यवनिका, जवनिका, जवनी, प्रतिसीरा, पटी, तिरस्करिणी आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य यवनिका रहती थी और सूत्रधार उसी के पीछे स्थित रहकर आश्रवणा विधि का सम्पादन करता था। यवनिका का दूसरा प्रयोजन अभिनेताओं को मंच पर प्रवेश कराना था। पात्रों के आगे-आगे दो पात्र यवनिका या पटी से उनको ढँकते हुए मंच पर आते थे और ध्रुवा के आरम्भ होने पर पर्दा खींच लेते थे।

उत्तररामचरितनाटक में सीता चरित

यशोदानन्द झा, माणिकपुर

उत्तररामचरितनाटक में सीता का चरित्र-चित्रण लोकोत्तर रूप में महाकवि भवभूति ने किया है। सीता एवं राम के परस्पर जिस प्रकार दाम्पत्य प्रेम का चित्रण उत्तररामचरित में किया गया है, वह सम्भवतः न कालिदास के रघुवंश में और न अन्य कवि के नाटकों में ही उपलब्ध होता है। यहाँ तो करुण रस की धारा ही प्रवाहित हो गई है। इसलिए कवि ने स्वीकार किया है—

"एको रसः करुण एव।"

इस करुण रस के तीव्र प्रवाह से पत्थर भी रो पड़ता है और कठोर व्यक्ति का भी हृदय विचलित हो जाता है।

महात्मा गाँधी पर आधारित संस्कृतसाहित्य में राष्ट्रिय भावना

डा० कुमुद टण्डन, नैनीताल

भारतीय समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसारित करने के लिए राष्ट्रीय भावना किंवा देशानुराग की भावना से अनुप्राणित करना नितान्त जरूरी है और यह भावना भारतीयों में तभी जागरित हो सकती है जबकि उन्हें संस्कृतभाषा का अधिकाधिक ज्ञान सुलभ हो सके । हमारे लिए यह बड़े सौभाग्य एवं प्रसन्नता का विषय है कि यद्यपि संस्कृत वाङ्मय में वेदकाल से ही राष्ट्रीयभावनापरक साहित्य की सर्जना होती रही है लेकिन अर्वाचीन साहित्यकार जन-जन में इस भावना का संचार करने के लिए कटिबद्ध रहे हैं । राष्ट्रीय भावनापरक साहित्य का अध्ययन-मनन भारतीय समाज के लिए निश्चय ही उपादेय है ।

कुमारसम्भवम् (५वाँ सर्ग) में शिव-पार्वती के पर्य्यायों तथा विशेषणों की सार्थकता

श्रीमती प्रेमलता 'माया'

संस्कृत साहित्य के सिरमौर महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों में नामों की सार्थकता पर बल दिया है । इसमें उनकी कुशल लेखिनी का अद्भुत चमत्कार सिद्ध होता है । उनके शब्द कितने सार्थक तथा सटीक उतरते हैं—यह विवेचनीय है ।

शब्द और अर्थ का साहित्यरूप काव्य है । जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द, तथा जो शब्द से ध्वनित हो उसे हम अर्थ कहेंगे । अर्थ भी देश, काल, पात्र, प्रसंग, प्रकृति से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का प्रोक्तिपरक अध्ययन

डा० उषा सिंहल, कुरुक्षेत्र

भाषा की महत्तम इकाई वाक्य न होकर प्रोक्ति है । यह भाषा की वाक्योपरि स्तर की इकाई है । प्रोक्ति से अभिप्राय तात्पर्ययुक्त संसक्त वाक्यों की एक ऐसी व्यवस्थित कड़ी है जिसमें बंधकर सम्प्रेष्य अपना सावयव रूप ग्रहण करता है । प्रोक्ति रूप के आधार पर परिभाषित न होकर अपितु अपनी प्रकृति और प्रकार्य के आधार पर परिभाषित होती है । परिणामतः यदि कोई वाक्य स्वतः पूर्ण है तो वह भी प्रोक्ति की संज्ञा पा सकता है । यही कारण है कि अर्थ की पूर्णता के कारण वाक्य, अनुच्छेद अथवा सम्पूर्ण कृति सभी प्रोक्ति की संज्ञा से अभिहित किए जाते हैं । प्रोक्तिपरक विश्लेषण में संसक्ति की महती भूमिका है ।

ज्ञातृधर्मकथा में वर्णित राजगृह नगरी : समीक्षात्मक अध्ययन

डा० हरेन्द्रप्रसाद सिंह, पटना

राजगृह नगरी में भगवान् महावीर ने अनेक चातुर्मास किये तथा दो सौ से भी अधिक बार वे समवसरण में लगे। राजगृह नगरी को प्रत्यक्ष देवलोकभूत व अलकापुरी भी कहा गया है। भगवान् बुद्ध भी अनेक बार राजगृह नगरी में आये थे। वे इस राजगृह नगरी को धर्मप्रचार का केन्द्र बनाना चाहते थे। यहाँ बौद्ध-संगीति हुई थी। जब बिम्बसार बुद्ध का अनुयायी था तब बुद्ध ने राजगृह से वैशाली जाने की इच्छा व्यक्त की। तब राजा ने बुद्ध के लिए सड़क बनवाई और राजगृह से गंगा तक की भूमि को समतल करवाया। राजगृह का प्राचीन नाम गिरिव्रज, वसुमति, बार्हद्रथपुरी, मगधपुर, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि, चैत्यक, बिम्बिसारपुरी और कुशाग्रपुर थे।

बुद्धवचनों की व्यापकता—सामाजिक सन्दर्भ में

डा० सत्यदेव कौशिक, अलीगढ़

भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के लिए भिक्षुओं को उपदेश दिया। बुद्ध के उपदेशों में शील का अत्यधिक महत्त्व है जिसका परिपालन करते हुए मानव अपने जीवन को उच्च स्तर पर पहुँचा सकता है। इस लेख में बुद्धवचनों की व्यापकता एवं उदात्तता को लक्ष्य कर सामाजिक दृष्टि से विचार किया गया है। आज समाज में चतुर्दिक् साम्प्रदायिकता, हिंसा, जातिवाद, धार्मिक असहिष्णुता और असमानता आदि का राज्य है। इन सबका कारण स्वार्थपरता ही है। इस लेख में इन्हीं तत्त्वों को आधार बनाकर बुद्ध के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है जो समाज को अखण्ड राष्ट्र बनाने में सहायक हो सकता है।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त

कु० पुष्पा पाण्डेय, लखनऊ

रस की चरमानुभूति का स्वरूप क्या है ? इसके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि रस आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वाक्य 'रसो वै स:' अभिनवगुप्त के मतानुकूल है। उनका यह कथन नितान्त सत्य है कि रसानुभव में आत्मा अपने को आनन्द, विमर्श अथवा स्फुरता के रूप में प्रकट करती है। साधारणीभूत स्थायीभाव का कोई प्रभाव तक इसमें अवशेष नहीं रह जाता है। यही स्थायीभाव विभावादि के पारस्परिक संयोगमय विषयरूपी रस भी इस अनुभव के समग्र उपचेतन में लीन हो जाता है।

गीता के योगत्रय में समाजवादी भावना

किरण कुमारी, दरभंगा

विद्वानों का मन्तव्य है कि ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—ये योगत्रय ही गीता का प्रतिपाद्य हैं। कर्म से विमुख होते हुए अर्जुन को कर्म में प्रवृत्त कराने के उद्देश्य से ही मुख्यत: कर्मयोग की महिमा का प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने गीता में किया है और उसी क्रम में ज्ञानयोग और भक्तियोग का भी उपदेश समान रूप से दिया है। किन्तु इन तीनों योगों को परस्पर विच्छिन्न और असंबद्ध मानने की भूल कदापि नहीं की जानी चाहिए। कर्म, ज्ञान और भक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं—ऐसा मानने वाले को ही गीता का मर्मज्ञ कहा जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में आपातत: समाजवाद से गीता का कोई निकट का सम्बन्ध कल्पना में भी नहीं समाता, किन्तु उससे उसका सम्बन्ध है।

जाणइ—पासइ

प्रो. डा० एच० यू० पांड्या, मेहसाना

यहाँ जैन सम्मत 'जाणइ—पासइ' एवं ज्ञान-दर्शन की जाँच वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के परिप्रेक्ष्य में की गई है।

नन्दिसूत्र के काल तक 'जाणइ—पासइ' का सम्बन्ध ज्ञान-दर्शन के साथ नहीं था, क्योंकि श्रुत एवं मनःपर्याय को दर्शन नहीं होने पर भी नन्दि में 'जाणइ—पासइ' का प्रयोग हुआ है, जबकि मतिज्ञान के दो दर्शन होते हुए भी वहाँ 'जाणइ, ण पासइ' का प्रयोग किया है।

बौद्ध परम्परा में 'जानाति पस्सति' शब्दयुग्म का जो अर्थ पालि डिक्शनरी में बताया है, वही अर्थ आगमिक 'जाणइ—पासइ' का है।

परिहरेश्वर देवालय में किंवदन्ति और पुरातात्विक उपकरण

सतीशचन्द्र चौधुरी, गुवाहाटी

गुवाहाटी महानगर से लगभग एक सौ किलोमीटर दूर पाठशाला शहर के समीप परिहरेश्वर देवालय स्थित है। वर्तमान में यह मन्दिर जहाँ स्थित है, ऐसी किंवदन्ति है कि वह स्थान किसी जमाने में दुर्बलगिरि नाम के एक छोटे से पहाड़ का एक टीला था। रघुबर नाम के ब्राह्मण की एक दुधारू गाय थी। उसी टीले की एक घास पर उस गाय के थन से दूध निकलकर गिरता था। रघुबर को रात को स्वप्नादेश हुआ, वह दूसरे दिन वहाँ जा पहुँचा और उस घास की जगह को खोदा। वहाँ उसे एक शिवलिंग मिला। कहा जाता है कि आहोम राजा शिवसिंह को भी ऐसा ही स्वप्नादेश मिला था। वे खुद वहाँ पहुँचे (१७१४-१७४४ ई०) और वहाँ एक मन्दिर बनवा दिया।

कालिदास के विदूषक

कु० सत्या शर्मा, सतना

संस्कृत महाकाव्यों में दृश्यकाव्य (नाटक) का विशेष महत्त्व माना गया है, क्योंकि नाटकों में दर्शन एवं श्रवण दोनों का ही आनन्द सामाजिक को प्राप्त होता है। पात्रों के कथोपकथन से चारित्रिक विशेषताओं का निखार स्वभावतः प्रतीत होता है। पात्र योजना में नायक, नायिका तथा अन्य पात्रों के अतिरिक्त 'विदूषक' पात्र का भी नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान होता है। ब्राह्मणकुलोद्भूत पात्र विदूषक अपनी बुद्धि चातुर्य एवं हास-परिहास तथा जिह्वालोलुता हेतु प्रसिद्ध है।

नायक के संकट के समय उसकी मनःस्थिति को सन्तुलित बनाने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने में भी विदूषक की उपस्थिति नाट्य परम्परा निर्वाह के साथ हास-परिहास से नायक एवं दर्शकों को भी प्रसन्न करने में सहायक होती है।

स्फोटवाद और अभिव्यञ्जनावाद

डा० (श्रीमती) नीलम श्रीवास्तव, कानपुर

पाश्चात्य–काव्यशास्त्र में बेनदेतो क्रोचे के अभिव्यञ्जना-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' और काव्य में अभिव्यञ्जना-वाद' निबन्धों में अभिव्यञ्जनावाद को संस्कृत-काव्यशास्त्र के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्साह कहा है। किन्तु, दोनों सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से आचार्य शुक्ल का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में क्रोचे के अभिव्यञ्जना–सिद्धान्त की तुलना यदि वैयाकरणों के स्फोट–सिद्धान्त से की जाए तो आश्चर्यजनक समानताएँ प्राप्त हो सकती हैं।

मेघदूत में यक्षपत्नी एवं यक्ष के लिए प्रयुक्त विशेषण एवं सम्बोधन

डा० कृष्णकान्त शुक्ल, बरेली

काव्य की अर्थग्रहण एवं बिम्बविधान की प्रक्रिया में उपयुक्त विशेषणों की अत्यन्त उपयोगिता है। कविकुलगुरु कालिदास के काव्यों में विशेषण-प्रयोग अनुपम हैं।

मेघदूत में यक्षपत्नी के लिए चलीस विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। इन विशेषणों से बाह्याभ्यन्तर सौंदर्य, शृंगार, विरह, नारीस्वभाव, विवशता, संस्कृति एवं परम्परा का उन्मेष सहृदयों के हृदयों में होता है। यक्ष के लिए प्रयुक्त विशेषणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

उज्जयिनीरेखा ही याम्योत्तर भूमध्यरेखा

डा० विनोद शास्त्री, जयपुर

भारतीय ज्योतिषशास्त्र में विभिन्न स्थानों के याम्योत्तर एवं पूर्वापर अन्तर निकालने में देशान्तरों का महत्वपूर्ण स्थान है। देशान्तरों का प्रारम्भिक स्थान भारतीय ज्योतिष के प्राचीन प्रमाणों से उज्जयिनी रेखा ही है जो जालंधर, जयपुर, कोटा, उज्जैन, भुसावल, असायिपुर, सोलापुर, बागलकोट, हरिहर, चिकमंगलूर आदि शहरों के पास या ऊपर से गुजरती है; लेकिन विश्व के अधिकांश देशों पर अंग्रेजों का साम्राज्य हो जाने के कारण देशान्तर का प्रारम्भिक स्थान ग्रीनवीच (लन्दन) को बना दिया।

पं० मधुसूदन ओझा कृत 'गीताविज्ञानभाष्य'

डा० नरेन्द्र अवस्थी, जोधपुर

अनेक विद्वद्रत्नों को जन्म देने में अग्रणी मिथिला प्रदेश में विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा का जन्म संवत् १९२३ में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन हुआ था। लेकिन उनका कार्यक्षेत्र राजस्थान प्रान्त का जयपुर नगर रहा।

पं० ओझा जी ने कुल २२८ ग्रन्थ लिखे। जिनमें ब्रह्म-विज्ञान सम्बन्धी चालीस, यज्ञ विज्ञान सम्बन्धी बीस, इतिहास सम्बन्धी अट्ठारह, वेदाङ्ग-समीक्षा के तीस और आगम रहस्य के एक सौ बीस ग्रन्थ हैं।

उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र इस प्रस्थानत्रयी पर लेखनी चलाकर विद्वानों ने स्वयं को कृतकृत्य समझा है। प्रस्तुत निबन्ध में पं० ओझा जी द्वारा श्रीमद्-भगवद्गीता पर जो विज्ञानभाष्य लिखा है, उसी का परिचय दिया जाएगा।

पालि-काव्य-साहित्य में श्रीलंका का योगदान

डा० प्रद्युम्न दुबे, वाराणसी

श्रीलंका बौद्ध धर्म प्रधान राष्ट्र है। वहाँ आज भी बौद्ध भिक्षुओं की बड़ी प्रतिष्ठा है। भारत से बाहर बौद्ध धर्म सर्वप्रथम श्रीलंका में ही गया। श्रीलंका में त्रिपिटक के अतिरिक्त सम्पूर्ण अट्ठकथाओं को भी लिपिबद्ध कर लिया गया था। आचार्य बुद्धघोष एवं धम्मपाल ने सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में रूपान्तरित किया था। छठीं शताब्दी तक सिंहल त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं का एकमात्र विश्रुत स्थान था। अट्ठकथाओं में विद्यमान विषय-सामग्री को आधार बनाकर इतिहासपरक ग्रंथों के लेखन की परम्परा प्रारम्भ हुई।

महामात्य वत्सराज प्रणीतम् "हास्य चूडामणि:"

कु. महिमा शास्त्री, इन्दौर

संस्कृत साहित्य के मध्यकालीन प्रहसनों में 'हास्य चूडामणि:' प्रहसन (वत्सराजकृत) की प्रधानतः गणना की जाती है।

महामात्य वत्सराज के इस प्रहसन में मध्ययुग की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार से बढ़ी हुई स्थिति का गम्भीर अध्ययन कर कथावस्तु सुगठित की गई है।

प्रस्तुत शोधपत्र में तत्कालीन विकृत तथा विलासी समाज की कथावस्तु विषयक अवधारणा का सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पुराणों में शिवतत्त्व

डा० चंचला गुप्ता, कटिहार

संस्कृत वाङ्मय में धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में त्रिदेवों की महिमा सर्वोपरि है, और वे हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश अर्थात् शिव। इसमें महत्त्व तीनों का ही है, क्योंकि वस्तुतः तीनों एक ही परमेश्वर के त्रिरूप हैं, किन्तु गुण एवं कार्यभेद से इन्हें उपर्युक्त पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु पालनकर्ता एवं शिव या शंकर सृष्टि के संहारक हैं। इन देवों की महिमा-गान प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वेदों से लेकर लौकिक साहित्य पर्यन्त किया गया है। उपर्युक्त त्रिदेवों में शिव का स्थान अवशिष्ट देवों की अपेक्षा अधिक माना गया है। शिव का पौराणिक साहित्य में उपलब्ध विभिन्न रूपों का विवेचन ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

भाषोत्पत्ति के आलोक में वैदिक मत

डा० मोहन मिश्र, भागलपुर

भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्या के निराकरण हेतु भाषावैज्ञानिकों द्वारा सतत प्रयत्न होता रहा किन्तु अद्यावधि यह मामला उलझा हुआ ही दृष्टिगत होता है। इस विषय पर विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचार अपूर्ण और अनिर्णयात्मक हैं। मात्र एक मत को मान लेने से भाषोत्पत्ति की समस्या हल नहीं हो जाती। कतिपय विचार पूर्णतः त्रुटिपूर्ण हैं और कतिपय अंशतः।

भाषोत्पत्ति सम्बन्धी अनेकशः सिद्धान्तों के प्रतिपादनोपरान्त भी भाषा की उत्पत्ति का निश्चित और निर्णयात्मक जवाब उपलब्ध न हो सकने के कारण भाषावैज्ञानिकों ने इस विषय को भाषाविज्ञान के क्षेत्र से बाहर घोषित किया है।

महाकवि कालिदास के कुछ दुर्घट प्रयोग

लखबीर सिंह, पटियाला

महाकवि कालिदास का संस्कृत साहित्य में उत्कृष्ट स्थान है। उन्होंने अपने साहित्य में व्याकरणिक नियमों का परिपालन सुचारू रूप से किया है परन्तु फिर भी कहीं-कहीं कुछ ऐसे शब्द या प्रयोग आ गए हैं, जिनको हम दुर्घट या अपाणिनीय भी कह सकते हैं। किन्तु व्याकरण शिष्ट लोगों के व्याख्यान को प्रमाण मानते हुए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को साधु ही स्वीकार कर लेता है, भले ही वे उसके नियमों के अनुकूल न हों। ऐसी स्थिति में वैयाकरण उन प्रयोगों को सुसंगत बनाने के लिए योग विभाग निपातन, द्रश्लिष्ट निर्देश इत्यादि अनेक युक्तियों के आधार पर इष्ट साधन कर लेते हैं। और इस प्रकार आपाततः अपाणिनीय प्रतीत होने वाले प्रयोग अन्ततोगत्वा पाणिनीय ही सिद्ध हो जाते हैं।

मत्वर्थीय 'इलच्' प्रत्यय का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डा० लक्ष्मीशवर झा, मुंगेर

'इलच्' प्रत्यय भारतीय आर्यशाखा से बाहर अज्ञात है। भारतीय आर्यशाखा में इसका उद्भव वैदिक काल में ही दीखता है तथा विकास अधुनातन काल तक सर्वत्र हुआ है। 'इलच्' प्रत्यय सम्प्रति उपलब्ध प्रमुख संस्कृत साहित्य में सर्वथा नवीन प्रायः १६ अङ्गों से विहित मिलता है, जो अधोलिखित ऐतिहासिक क्रम में दर्शनीय है, यथा अथर्ववेद में तुण्ड से तुण्डिल; यजुर्वेद में पिशङ्ग ;से पिशङ्गिलः ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्रण से व्रणिल; वेदाङ्गों में फेन से फेनिल, जटा से जटिल, तुन्द से तुन्दिल; महाभारत में पिच्छा से पिच्छिल, पङ्क से पङ्किल; कुमारसम्भव में ग्रह से ग्रहिल; पञ्चतन्त्र में दन्त से दन्तिल; मृच्छकटिका में तन्त्र से तन्त्रिल; वैराग्यशतक में सिकता से सिकतिल; हर्षचरित में शर्करा से शर्करिल; भागवतपुराण में द्रुम से द्रुमिल; कथासरित्सागर में वेग से वेगिल, शाखा से शाखिल, आदि।

संस्कृत रूपकों की समय-समीक्षा

डा० इन्द्रमोहन सिंह, पटियाला

संस्कृत नाट्य साहित्य में समय सम्बन्धी विचार का अत्यधिक महत्व है। समय के सम्यक् विभाग के बिना नाट्यलेखन सम्भव नहीं है। इससे सम्बद्ध नियम दृश्यसूच्य कथा को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं। जैसे दृश्य कथा से सम्बद्ध भरत मुनि का विचार है—एक दिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कः...... (ना० शा० २०.२३)। प्रायः सभी प्रसिद्ध नाट्यकृतियों में उक्त नियम का पालन है। कालिदास, भास, भवभूति आदि सभी भरत के उक्त नियम को मान्यता देकर अङ्क में एक दिन का वृत्त ही दृश्य में अभिव्यक्त करते हैं। अनेक बार ये नाटककार अनेक दिनों के वृत्त को भी एक दिन में ही समेट कर अङ्क को दृश्य में अभिव्यक्त करते हैं।

पूर्ववैदिक एवं वैदिक युग में मातृशक्ति की उपासना

डा० (श्रीमती) संतकुमारी श्रीवास्तव, आगरा

सृष्टि के निर्माण में जनक से जननी का महत्व हजार गुना अधिक है क्योंकि जननी के ही स्नेहसिक्त क्रोड में सृष्टि का अंकुरण, संवर्धन एवं पोषण होता है। जननी के अभाव में सृष्टि की कल्पना भी असम्भव है। ऐसी महिमामयी जननी की पूजा व अर्चना न केवल देवी या महादेवी के रूप में की गई अपितु उसे जगत् की आद्याशक्ति के रूप में देखा गया। उसने ही समस्त चराचरात्मक जगत् की उत्पत्ति मानी गई, वह ही उसकी संरक्षिका है एवं वह सब जगह व्याप्त है। भारतवर्ष में इस आद्या मातृशक्ति की उपासना उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं भारत। उसके इस रूप के दर्शन हमें पुराकाल से ही शैलचित्रों, पुरातात्विक अन्वेषणों एवं वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं।

पाणिनिकृत ध्वनिपरिवर्तन और अर्थपरिवर्तन का सम्बन्ध

डा० (कु०) नीलम राणी, राजपुरा

संस्कृत भाषा में भारोपीय भाषा परिवार की अन्य भाषाओं के समान ध्वनिपरिवर्तन और अर्थपरिवर्तन में अनेक विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ—किसी भी शब्द के ध्वनिक्रम में परिवर्तन होने पर उस शब्द के अर्थ में भी कुछ परिवर्तन आ जाता है। यथा—वाम: (बायाँ) और वामा (स्त्री); हर: (ले जाने वाला) और हार: (एक प्रकार का आभूषण जो कंठ में धारण किया जाता है ; कषित: (घायल हुआ) और कष्ट: (कठिन) आदि पदसमूहों के ध्वनिक्रम में परिवर्तन होने पर अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है। यह आवश्यक नहीं कि पद की ध्वनियों में परिवर्तन होने पर अर्थ में भी परिवर्तन हो ही, जैसे—'पृथ्वी' और 'पृथिवी', 'नालिकेर' और 'नारिकेल' पदसमूहों में ध्वनिक्रम में परिवर्तन होने पर भी अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है।

भक्ति-आन्दोलन का ऐतिहासिक अनुशीलन

डा० अजितशंकर प्रसाद, भागलपुर

मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक महान सांस्कृतिक उपलब्धि "भक्ति आन्दोलन" की घटना है। तत्कालीन भारतीय जन-जीवन, संस्कृति, समाज एवं धर्म को जिस व्यापक रूप से उस घटना ने प्रभावित एवं उद्वेलित किया, उतना उक्त काल में किसी घटना ने नहीं किया। उक्त आन्दोलन में दीर्घकालीन भारतीय चिन्तन, संस्कारों एवं परम्पराओं की गहन अनुभूतियों का समावेश था। तत्कालीन सन्तों एवं कवियों ने राजनीतिक अराजकता, धार्मिक कट्टरता एवं संकीर्णता के युग में तथा पतनोन्मुख समाज के समक्ष सहिष्णुता, नैतिकता एवं मानवीय मूल्यों के आदर्शों को प्रतिष्ठापित किया तथा एक सहिष्णु धर्म एवं नवीन समाज के निर्माण का प्रयास किया।

महाकवि कालिदास-सम्मत जगत्कारणमीमांसा

डा० उमारानी त्रिपाठी

सुरभारती के सनातन शृङ्गार महाकवि कालिदास संस्कृत-साहित्य के रससिद्ध कवीश्वर हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति का सनातन गौरव सुरक्षित है। लोककल्याण एवं राष्ट्रमङ्गल की मधुमय पयस्विनी प्रवाहित करने वाले ऐसे महान् क्रान्तदर्शी मनीषी कवि की कृतियों में संस्कृति के प्राणभूत आध्यात्मिक तत्त्वों के अभाव का विचार करना तो वाग्देवी के अमर पुजारी के प्रति सर्वथा अन्याय होगा। दर्शन भारतीय मनीषियों की आत्मनिधि है, 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' की शाश्वत परम्परा के मान्य स्तम्भ महामनीषी कालिदास का काव्य भी तत्त्वपर्येषण की इस जिज्ञासा परिधि से परे नहीं रह सका।

अष्टाध्यायी के 'आदि' उत्तरपदवाले समस्त पदों की समीक्षा

कमलेशकुमार छ. चौकसी, अहमदाबाद

पाणिनीय अष्टाध्यायी में 'आदि' उत्तरपदवाले अनेक समास घटित पद प्रयुक्त हुए हैं। प्रत्ययों के विधायक सूत्रों में तो ऐसे अनेक पद हैं ही, इसके अलावा अंगाधिकार और संज्ञा सूत्रों में भी आदि उत्तरपद वाले समस्त पद दृष्टिगोचर होते हैं।

इन विभिन्न 'आदि' उत्तरपद वाले समस्त पदों में कौन-सा समास है, दूसरा कोई समास क्यों नहीं, दूसरा समास स्वीकार कर लेने पर क्या दोष आते हैं, एक निश्चित समास का निर्णय लेने के क्या-क्या उपाय परंपरा में स्वीकृत हैं, यह सब विचारणीय है।

चित्रकाव्य की प्रेषणीयता

इन्दुभूषण मिश्र, कहलगाँव

निःसन्देह सत्काव्य सत्य, शिव एवं सुन्दरान्वित हुआ करता है। उसके इस संस्कार का ज्ञान हमें उसकी प्रेषणीयता से होता है। यह प्रेषणीयता वस्तुगत, रसगत, अलंकारगत, भावगत एवं देश-कालगत हुआ करती है। प्रेषणीयता के इन क्षेत्रों में सामान्यतया सहजता एवं स्वाभाविकता परमावश्यक है; परन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष में, या यों कहें कि काल-विशेष से प्रभावित होकर यह दुरूह भी हो जाती है। तब यह सामान्य सहृदयों के लिए न होकर विशेष प्रतिभासम्पन्न प्रबुद्ध सहृदयों एवं मर्मज्ञों के लिए आशंसनीय होती है; लेकिन सहज या दुरूह जो भी रचना-शिल्प हो वहाँ प्रेषणीयता ही कवि विवक्षित भाव-बोध के दर्शन कराती है।

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित नदियों का भौगोलिक विश्लेषण

कु० सुनीता रानो

वाल्मीकि-रामायण संस्कृत साहित्य का प्रमुख काव्य है। इसके कर्ता के जीवन एवं समय के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। उपलब्ध सन्दर्भ के आधार पर वे वरुण के दसवें पुत्र थे। अधिकांश विद्वान् इसे बुद्ध एवं पाणिनी से पूर्व की रचना स्वीकार करते हैं। विद्वान् इसे आख्यानों के आधार पर विकसित हुई मानते हैं।

भवभूति के कतिपय बिम्ब

रमेशकुमार तिवारी, वैशाली

महाकवि भवभूति का स्थान संस्कृतवाङ्मय में अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनके तीन रूपक हैं। इन रूपकों में इन्होने विविध बिम्बों की योजना की है। इन बिम्बों की सहायता से ये किसी भी वस्तु का शब्द-चित्र दर्शक के समक्ष मूर्त रूप में अंकित कर देने में समर्थ प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में भवभूति के कतिपय बिम्बों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

वट्टं तेसं नत्थि पञ्ञापनाय

डा० राय अश्विनीकुमार, बोधगया

पालि त्रिपिटक में विगततृष्ण, उपादान रहित, क्षीणाश्रव साधकों की संज्ञा अर्हत् है। शरीर धारण किए हुए अथवा मृत्यु को प्राप्त मुक्त पुरुषों (अर्हत्) के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। वे अननुवेद्य हैं क्योंकि सामान्य व्यक्तियों के पास वह दृष्टि नहीं होती जिससे वीतराग अर्हत् को जाना जा सके। चूँकि अर्हत् ने सभी प्रकार की दृष्टियों का प्रहाण कर दिया है अतः उन्हीं दृष्टियों के आलोक में उसको देखना, समझना, वर्णन करना उपयुक्त नहीं है। यहाँ भाषा के समस्त प्रतिमान भ्रान्त सिद्ध होते हैं। जिन कारणों से प्राणी संसारबन्धन में पड़ते हैं उनसे वे सर्वथा विमुक्त रहते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों, रुचियों, झुकावों, कर्महेतुओं आदि के द्वारा जाना जाता हैं। परिपूर्णता प्राप्त व्यक्ति में रुचि-अरुचि का नितान्त अभाव रहता है इसलिए उसके विषय में किसी भी प्रकार के कथन का कोई आधार बिल्कुल भी नहीं बनता। अतः उसके विषय में विधेयात्मक कथनों के हमारे समस्त संज्ञानात्मक या आनुभविक आधार अक्षम और निष्फल हैं। वस्तुतः अर्हत् प्रमेय नहीं है। जिस प्रकार जीवितावस्था में मुक्त पुरुष किसी भी प्रकार नहीं मापा जा सकता, उसी प्रकार उसकी मृत्यूपरान्त स्थिति के विषय में भी कुछ कहना अशक्य है।

भास के रूपकों का वर्गीकरण

गुरुचरण कौर, मुंगेर

संस्कृत वाङ्मय में भास नाटक या रूपक की रचना करके ही विख्यात हैं। इनकी अन्य कोई रचना नही मिलती। इन्होंने तेरह रूपक लिखे है। रंगमंच की दृष्टि से इनके रूपक बड़े उत्कृष्ट हैं। रूपक भेदों में इनकी तेरह रचनाएं कुछ व्यायोग, कुछ उत्सृष्टिकांक, कुछ नाटक आदि माने जाते हैं किन्तु अभी भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से इनके रूपकों का क्या उचित स्थान होना चाहिए, इस शोधलेख के माध्यम से उसे ही प्रस्तुत किया गया है।

भाष्यकारप्रोक्त सन्निपात परिभाषा के प्रयोजन

डा० भीमसिंह, पटियाला

"कृन्मेजन्त" (पा.१.१.३९) सूत्र के व्याख्याप्रसङ्ग में भाष्यवार्तिककार ने 'सन्निपात परिभाषा' के प्रयोजन और दोषों पर पर्याप्त विचार किया है। इनमें भाष्यकार ने वार्तिककारप्रोक्त सन्निपात परिभाषा' के सभी छह प्रयोजनों का प्रत्याख्यान करके फिर 'इमानि तर्हि प्रयोजनानि" ऐसा कहकर अपनी ओर से तीन प्रयोजन और गिनाए हैं। किन्तु इनमे उपर्युक्त 'उवोष' इस प्रयोग में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ" (पा.३ १.३६) से प्राप्त आम्' को रोकने के लिये यह उदाहरण 'सन्निपात परिभाषा' के प्रयोजन के रूप में उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि "उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्" (पा. ३.१.३८) यह वैकल्पिक 'आम्' विधायक विशेषसूत्र इसका अपवाद होने से इसको बाँध लेता है।

कश्मीरी तथा नेपाली के संस्कृतमूलक शब्दों का विवेचन

डा० केदारनाथ शर्मा, जम्मू

भाषायी सम्बन्ध की दृष्टि से कश्मीरी तथा नेपाली दोनों भाषायें एक ही माँ संस्कृत की सन्तान हैं तथा दोनों आधुनिक आर्य भाषायें हैं। संस्कृत से कश्मीरी तथा नेपाली तक आने में भाषा को विकास के अनेक पथों से गुजरना पड़ा है, जिसके फलस्वरूप इन दोनों भाषाओं में संस्कृत से आने वाले शब्दों के न केवल अर्थपरिवर्तन हो गये हैं, अपितु भाषा की प्रकृति भी भिन्न हो गई है। फिर भी दोनों भाषाओं में संस्कृत के अनेक ऐसे शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनके प्राचीन संस्कृत अर्थ अभी भी सुरक्षित हैं, उदाहरणार्थ- संस्कृत कोकिल, भोग, माध्यमिक, ध्यान, अंग, वेला तथा व्यवहार शब्दों से विकसित कश्मीरी तथा नेपाली के क्रमशः कुकिल/ कोइली, बुग/ भोग, मन्ज़ुम/माध्यमिक, द्यान/ध्यान,अंग/ आँग, वेल/ वेला तथा व्यवहार/व्यव हार जैसे शब्द दोनों भाषाओं में तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्रचलित हैं एवं इन दोनों भाषाओं में ये शब्द संस्कृत के समानार्थक हैं।

छायावादी काव्यचेतना पर कालिदास का प्रभाव

अजयकिशोर श्रीवास्तव, धनबाद

अनेक आलोचकों ने छायावादी काव्यचेतना पर पाश्चात्य कविता के स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का प्रभाव लक्षित किया है। किन्तु यह उस दृष्टिकोण का परिणाम है जिसके अन्तर्गत हम अपनी किसी भी नवीन भावधारा के उद्भव के कारण तत्त्वों के लिये पश्चिम का मुँह निहारने लगते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि छायावाद जहाँ एक ओर तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव और सामाजिक तथा साहित्यिक रूढ़ियों एवं थोथी नैतिकता के प्रति विद्रोह का परिणाम था, वहीं दूसरी ओर वह भारतीय साहित्य परम्परा के अखण्ड-अजस्र प्रवाह की एक धारा है और इस धारा पर महाकवि कालिदास का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।

भरतपुर क्षेत्र में रचित सचित्र ग्रन्थ 'सुजान चरित्र'

तनूजासिंह, जयपुर

राजस्थान के पूर्वांचल में स्थित भरतपुर प्राचीनकाल से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के लिये प्रसिद्ध रहा है। यह क्षेत्र मत्स्य, शूरसेन जनपद में सम्मिलित था, जिस पर नाग, गुप्त, शूरसेन एवं प्रतिहारों के शासन तथा बाद में मुगल शासकों के अधीन रहा। १८वीं शती में इस क्षेत्र में यदुवंशी जाट शासक एक शक्ति के रूप में उभरे।

इस भूखण्ड में कला एवं संस्कृति के आधार प्राचीनकाल के मिलते हैं। परन्तु मध्यकाल में इसकी शृंखला कुछ टूटी दिखाई देती है।

अभिषेक तथा महावीरचरित : नाट्यशास्त्रीय समीक्षण

डा० उमेश पाण्डेय, धनबाद

मूर्तिविधायिनी कला नाट्य के प्रथम प्रणेता महाकवि भास स्वीकार किए जाते हैं। इन्होंने वस्तु, नेता तथा रस तीनों के संदर्भ में अपने मौलिक प्रयोग करते हुए भावी पीढ़ी के लिए विस्तृत उर्वर भूमि प्रदान कर नाट्य के क्षेत्र में उन समग्र नाटकीय सम्भावनाओं के द्वारों का उद्घाटन किया जिनकी सोपानों पर चढ़ता संस्कृत नाट्य-साहित्य भवभूति के भावभूमि तक पहुँचा। आदिकाव्य रामायण को आधार बनाकर भास ने दो रामनाटकों का प्रणयन किया और भवभूति ने भी इनका अनुपालन किया। कथावस्तु तथा रसपरिपाक की दृष्टि से इन दोनों नाटककारों की चारों कृतियां समान परम्परा की पोषिका हैं।

राजस्थान में वैष्णव धर्म का आरंभिक विकास

सतीशकुमार त्रिगुनायत, जयपुर

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रचलित भागवत धर्म का प्रथम उत्थान प्राचीन सूरसेन जनपद (मथुरा-मण्डल) में हुआ। मथुरा से इसका प्रसार-प्रचार मध्यभारत में विदिशा की ओर तथा पश्चिम की ओर राजस्थान में शिवि क्षेत्र की ओर हुआ। राजस्थान का दक्षिणांचल इसका प्रमुख केन्द्र रहा। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक सन्निकटता के कारण राजस्थान का पूर्वांचल भी इस नवीन भक्तिप्रधान धर्म के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। उत्तरी राजस्थान में प्राचीन सरस्वती एवं दृषद्वती के तट पर स्थित रंगमहल तथा पश्चिमी राजस्थान में मण्डोर इसके प्रमुख केन्द्र प्रतीत होते हैं। सारांश में आरम्भिक गुप्तकाल तक राजस्थान के सम्पूर्ण क्षेत्र में वैष्णव सम्प्रदाय एक लोकप्रिय सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

अभिनन्द का जीवन तथा रचनायें

नाज़नी परवीन, अलीगढ़

संस्कृत साहित्य में संग्रह ग्रन्थ लिखने की परम्परा तो प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। किन्तु काव्यों को संक्षिप्त करके संग्रहग्रन्थ बनाने की परम्परा सर्वप्रथम अभिनन्द ने प्रारम्भ की। उन्होंने बाणभट्ट की कादम्बरी को संक्षेप में महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया। अन्य कवियों ने भी अभिनन्द के मार्ग पर चलने का प्रयास किया परन्तु इन सभी में अभिनन्द का कादम्बरीकथासार एक उच्चकोटि का संग्रह है।

अभिनन्द ने कादम्बरीकथासार के प्रारम्भ में अपने वंश का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।

भास एवं हर्ष की उदयन-कथाश्रित नाट्य-कृतियों के कतिपय पात्रों का तुलनात्मक चित्रण

डा० ताराकान्त शुक्ल, धनबाद

संस्कृत नाट्य-साहित्य के प्राचीनतम शिल्पी महाकवि भास तथा उनसे अत्यधिक अर्वाचीन कवि हर्षदेव ने वत्सराज उदयन के लोक-कथा पर आधारित जीवन-वृत्त को लेकर क्रमशः प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् तथा स्वप्नवासवदत्तम् और प्रियदर्शिका तथा रत्नावली-नाटिका का प्रणयन किया है। ये सभी नाट्य-ग्रन्थ उदयन के जीवन-वृत्त पर आधारित होते हुए भी कथानक की दृष्टि से भिन्न हैं। कथानक की इस भिन्नता का प्रभाव इन नाटकों के पात्रों के जीवन-वृत्त पर भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। उदाहरण के रूप में हम वासवदत्ता के चरित्र का अवलोकन कर सकते हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की प्रधान नायिका होते हुए भी नाटक में वासवदत्ता कहीं भी दृष्टिगत नहीं हुई है।

वाक्यलक्षणविमर्श

डा० अयोध्यादास श्रीवैष्णव, बस्ती

संस्कृत वाङ्मय का अनुशीलन करने पर लोकव्यवहार में स्पष्टार्थ प्रतिपादक वाक्य के स्वरूप के विषय में आचार्यों में विवाद परिलक्षित होता है। प्राचीन वाक्यलक्षणों में मीमांसा सूत्रकार जैमिनी कृत अर्थक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' तथा वार्त्तिककार कात्यायन कृत 'आख्यातं साव्ययकारक विशेषणं वाक्यम्। एकतिङ्' । वाक्यलक्षणों को विद्वानों ने प्राचीन शास्त्रीय वाक्य लक्षण माना है। महाभाष्यकार पतंजलि ने अपूर्व शब्द का प्रयोग करते हुये कात्यायनोक्त वाक्यलक्षण को आद्यवाक्यलक्षण माना है। ये वाक्य-लक्षण शास्त्रीय हैं अथवा लौकिक इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद हैं। कात्यायन के पूर्व व्याडि ने भी 'पद संघातजं वाक्यं' वाक्यलक्षण किया है।

संरचनात्मक समीक्षापद्धति

डा० भगवतीप्रसाद शर्मा, आगरा

संरचनात्मक समीक्षापद्धति को सावयवी समीक्षापद्धति भी कहते हैं। इसका प्रतिपाद्य बोधात्मक संवेदन होता है जिसे शुक्ल जी ज्ञानात्मक बोध कहते हैं। ज्ञान ही काव्य के संचरण के लिए रास्ता खोलता है। ज्ञान प्रसार के भीतर ही हृदय-प्रसार होता है और हृदयप्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अतः ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य की नई-नई मार्मिक अर्थभूमियों की ओर बढ़ेगा। अतः काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिक प्रकृति ही साधारणीकरण को सम्भव बनाती है जिसमें व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्यधर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं और पाठकों के हृदय में एक ही भाव का उदय थोड़ा बहुत होता है।

सौन्दरनन्द में बौद्धदर्शन विधायक तत्व

कु० प्रभा शर्मा, आगरा

अठारह सर्गों में निबद्ध 'सौन्दरनन्द' महाकवि अश्वघोष की महाकाव्यात्मक रचना है। इसमें महाकवि ने स्पष्ट लिखा है कि 'इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः' अर्थात् मोक्ष धर्म की व्याख्या मे परिपूर्ण यह कृति, शान्ति प्रदान करने के लिए है न कि आनन्द देने लिए। सौन्दरनन्द महाकाव्य में शुद्धोधनपुत्रसिद्धार्थ की बुद्धत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया एवं नन्द को दिए गये उपदेश के कथासूत्र के माध्यम से बौद्धदर्शन विधायक तत्वों की ही स्पष्ट विवेचना हुई है, क्योंकि महाकवि अश्वघोष के युग में बौद्धिक चेतना का ह्रास हो रहा था। मंत्रों तथा तंत्रों के षड्यंत्रों से धर्म वादविवाद के चंगुल में फँस गया था। सांस्कृतिक वातावरण सुखभोग की परिस्थितियों में फँसकर निष्क्रियता और अर्थहीन तार्किकता के बल पर नैतिकता से हट गया था।

काव्यभाव का परिचायक—सोम रस

डा. चन्द्रनन्दिनी भागवे

वेदों में रस रूप में सोम की प्रतिष्ठा है। वस्तुतः भौतिक स्वरूप में यह सोम रस एक ऐसा मधुर-मादक पेय है जो विशिष्ट प्रक्रिया से तैयार होता है तथा मनुष्य तो क्या देवताओं का भी प्रिय पेय है।

सोम रस की अलौकिक गुणवत्ता के कारण ऋषियों ने उसे देवपद पर प्रतिष्ठित कर अनेकतः उसकी स्तुति की है। फलतः सोम रस देवस्वरूप में भी विद्यमान है।

इन दोनों भौतिक एवं दैविक स्वरूप के अतिरिक्त सोम रस का एक और भी रूप वैदिक मन्त्रों में निहित है, तदनुसार सोम की सैकड़ों धाराएँ तो अमृतरस रूप में देवों के लिए हैं किन्तु सहस्र धाराएँ वाणीरूप में कवियों की वाग्शोभा के लिए हैं।

क्षेत्रानुबन्ध तथा भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में कादम्बरी की विशिष्ट वनस्पतियाँ

डा. माया त्रिपाठी, बस्ती

कादम्बरी के कथानकगत क्षेत्रानुबन्ध के परिप्रेक्ष्य में तत्तत् हिमालय क्षेत्रानुबन्धी उल्लेखों के साथ पूर्वी एव पश्चिमी समुद्र से परिसीमित विस्तृत भारतीय भूखण्ड की वनस्पतियों का बाणभट्ट ने सामूहिक उल्लेख किया है, जो अपने प्रकार का विशिष्ट है। उक्त सम्पूर्ण भारतीय भूखण्ड का समावेश बाणभट्ट ने 'विन्ध्याटवी' में किया है। बाणभट्ट की विन्ध्याटवी की यह कल्पना भी अपने प्रकार की विशिष्ट ही है।

तांत्रिक बौद्ध प्रातिभज्ञान और स्वसंवेदन प्रत्यात्मायंज्ञानगोचर के विशेष सन्दर्भ में

डा. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, वाराणसी

तांत्रिक बौद्ध सिद्ध तार्किक नही थे। उनके पूर्व महायानी बौद्ध आचार्यों ने तर्काश्रय से अपनी चिंतना को पर्याप्त पुष्टि प्रदान की थी। इन सिद्धो की संस्कृत रचनाओं में भी प्रायः पूर्वाचार्यों के तर्को की छाया देखने को मिलती है किन्तु वे तर्क और शास्त्र दोनों को महत्त्व नहीं देते। शास्ता अथवा गुरु को व्यक्तिशः सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने मे साक्षीभूत ज्ञान की महिमा दिखाई पड़ती है। यहाँ तत्त्व की अनिर्वचनीयता, प्रातिभज्ञान की अनिवार्यता और अधिकारभेद सिद्धान्त की महत्ता और साधनात्मक उपयोगिता को ध्यान में रखा जा सकता है।

हिन्दी का लिंग–सर्वनाम

डा० वी० डी० हेगडे, मैसूर

भारतीय आर्यभाषा मे लिंग-सर्वनाम का इतिहास अत्यन्त रोचक है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा संस्कृत' में नपुंसकलिंग लिंगसर्वनाम है। 'सामान्ये नपुंसकम्' यह घोषणा नपुंसकलिंग के सम्बन्ध में की जाती है। महाभाष्य मेंएकश्रुति को स्वर-सर्वनाम और नपुंसकलिंग को लिंगसर्वनाम कहा गया है। (पा०सू० ६-४-१७४)। विशेष्यविशेष का असन्निधान या असमभिव्याहार 'सामान्य' है। लिंगविशेष की अविवक्षा भी 'सामान्य' कहलाती है। इस 'सामान्य' की स्थिति में 'नपुंसकलिंग' होता है, यथा—मया पठितम्। इसके प्रत्युदाहरण हैं—'ग्रन्थः पठितः।' 'पुस्तिका पठिता।' नपुंसकलिंग साम्यावस्थाप्यस्थितिमात्र में होता है।

भारतीय परिवेश में नागरी और रोमनलिपि

डा० नरेश मिश्र, रोहतक

लिपि के आधार पर भाषा में समय और स्थान पार करने की शक्ति आ जाती है। किसी भी भाषा को एकाधिक लिपियों में लिपिबद्ध किया जा सकता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि भाषाविशेष परम्परागत रूप में जिस लिपि में लिखी जाती है वह उनसे सम्बन्धित भाषा-भाषियों के लिए अनुकूल और सरल लगने लगती है।

भारतीय परिवेश में नागरी लिपि के साथ रोमन लिपि का प्रचार हो गया है। अंग्रेजी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा तथा रोमन को अन्तर्राष्ट्रीय लिपि मानते हैं। इतना होते हुए भी यदि नागरी और रोमन लिपियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो अनेक तथ्य सामने आते हैं।

प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला का केन्द्र—राजस्थान

डा० आर० के० वशिष्ठ, जयपुर

१७वीं सदी के तिब्बेतियन बौद्ध कला इतिहासकार तारानाथ द्वारा प्रस्तुत विवरणों के अनुसार ईसा की तीसरी सदी से लेकर सातवीं सदी तक की विभिन्न कला प्रवृत्तियों एवं धाराओं का सुविस्तृत एवं तथ्यपूर्ण विवेचन करते हुए लिखा है कि बौद्धकाल में तीसरी सदी से लेकर गुप्तोत्तर काल तक भारत में देव, यक्ष एवं नाग शैली प्रमुख थी जिनके क्षेत्र निर्धारित कर बताया कि पूर्वी क्षेत्र में देव शैली, मध्य क्षेत्र में नाग शैली तथा पश्चिमी क्षेत्र में यक्ष शैली का बाहुल्य रहा है।

'पउमचरिउ' में सीता का स्थान

हृषीकेश तिवारी, पटना

कविराज स्वयम्भूदेव की प्रबंध-प्रतिभा—"पउमचरिउ" एक सरस-सरल जैन रामायण है, जिसमें सीता का चरित्र भारतीय संस्कृति के लिए अक्षुण्ण धरोहर है।

प्राकृत, अपभ्रंश-भाषी, ओजस्वी कविराज किसी बात को लचर या शिथिल ढंग से कहना जानते ही नहीं। पर्वतीय निर्झर की भाँति उनकी वाक्यावली जब किसी भाव, विचार या तथ्य के स्पष्टीकरण में आवृत्तिमय ढंग से बह निकलती है, तो पाठक का विस्मय-विमुग्ध मन उसमें आप्लावित हुए बिना रह नहीं सकता।

मगध की बेटी मागधी (पालि)

डा० देवेन्द्रप्रसाद, नवादा

प्रस्तुत निबन्ध पालि की आत्मकथा के रूप में वर्णित है। यह निबन्ध पालि भाषा, जो मागधी नाम से विख्यात थी, उसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित है।

प्राचीन साहित्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पहले हमारे पूर्वज अपने भावों को व्यक्त करने के लिए प्राचीनतम भाषा (आदि प्राकृत) बोलते थे। उस युग के हमारे पूर्वजों के भाव जिसमें संकलित है, उसे हम वैदिक साहित्य कहते हैं। वैदिक साहित्य की भाषा का नाम "छान्दस" है। छान्दस में वेद एवं उन पर ब्राह्मण ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। बाद में साहित्य की भाषा का प्रवाह प्रायः रुक-सा गया, परन्तु जनसाधारण में बोली जाने वाली भाषा प्रगतिशील मानवसमाज के साथ अपने रूप-रंग को बदलती गई।

राजस्थान में पुनर्जागरणयुगीन समसामयिक कला के स्रोत

धर्मवीर वशिष्ठ, जयपुर

पुनर्जागरण कला आन्दोलन भारतीय चित्रकला में महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है जिसने भारत के जागरूक अस्तित्व की पहचान बनाई। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ ही यह कलाप्रवृत्ति देश के कोने-कोने में विकसित हुई। राजस्थान में भी इसका सूत्रपात २०वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों से ही हो चुका था जिनमें राजस्थान में पुनर्जागरण का श्रेय जयपुर के चित्रकार स्व० सौभागमल गहलोत (१९०६-१९८७ ई०) व पद्मश्री रामगोपाल विजयवर्गीय (१९०५ ई०) को जाता है।

ऋग्वेद का महाकाव्यत्व

जैमिनि ने छन्दोबद्ध रचना को ऋक् माना है—'तेषाभृग् यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था'। वैदिककाल में छन्दोबद्ध रचना का ही नाम काव्य था। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने गद्य एवं पद्य—ये दो विभाग काव्य् के किये हैं। तीसरा विभाग गद्य एवं पद्य का मिश्रण चम्पू है। संस्कृत साहित्य में पद्यात्मक रचनाओं का ही प्राचुर्य रहा है। यहाँ तक कि ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन आदि के क्षेत्रों में भी पद्य ने प्रधानता प्राप्त की। फलतः वैदिक युग की प्रथम पद्यमय रचना ऋग्वेद प्रथम महाकाव्य माना जा सकता है। मैक-डोनल्ड अपने इतिहास में सर्वत्र ऋग्वेद को Poetry ही कहते हैं। यही संस्कृत भाषा का आदिकाव्य है।

संस्कृत व्याकरण में प्रातिपदिकार्थ

मीनाक्षी सचदेवा, कुरुक्षेत्र

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य यास्क और सूक्ष्म-तत्त्व-विवेचक भाष्यकार पतञ्जलि ने चतुर्विध पदों—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की युक्तता को अङ्गीकार किया है। 'नाम' पद की प्रकृति को संस्कृत व्याकरण में प्रातिपदिक कहा जाता है। संस्कृत के नाम अर्थात् सुबन्त पद प्रातिपदिक और सुप् प्रत्ययों के योग से बनते है। प्रातिपदिक के लिए भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं। वैयाकरणों ने सुबन्त पदों की प्रकृति का निर्धारण करते समय प्रातिपदिक के लिए 'नाम' पद का प्रयोग किया है। मीमांसकों ने इसे पद कहा है। पतञ्जलि ने भी प्रातिपदिकार्थ के लिए पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य वरदराजकृत प्रमाण-लक्षण वैशिष्ट्य

बारहवीं शताब्दी के वरदराजाचार्य द्वारा 'तार्किकरक्षा' नामक प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की गई। इस ग्रन्थ में प्रमाण-सामान्य के लक्षण के प्रसङ्ग में उनका वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। उन्होंने भाष्य, वार्तिक तथा टीका से प्राप्त परम्परागत मत का तथा उदयनाचार्य से प्राप्त नूतन मत का समन्वय कर एक व्यापक लक्षण प्रस्तुत किया है। प्रमाण-सामान्य के प्रसङ्ग में वरदराजकृत लक्षण उदयनाचार्य से प्रभावित होता हुआ भी उनसे कहीं अधिक स्पष्टता एवं विशदता लिये हुए है।

प्रमा से व्याप्त होता हुआ जो प्रमिति का साधन हो तथा प्रमा से व्याप्त होता हुआ जो प्रमा का आश्रय हो, वह प्रमाण है।

आदिकवि का आदिश्लोक

जनार्दनप्रसाद पाण्डेय 'मणि', इलाहाबाद

मा निषाद् ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।। वा.रा. ११.१३

उपर्युक्त श्लोक लौकिकसस्कृतसाहित्य में आदिकवि के आदिश्लोक के रूप में विख्यात है। यह अन्यूनानतिरिक्त-शोभाशालित्वाभिषिक्त साहित्य की अत्युत्तम सृष्टि है। इस श्लोक की उत्पत्ति के पीछे जो कारण है, वह भावोद्वेग है, निश्छल-शोकोद्वेग है। अरण्य की किसी उपत्यका में चारुनिःस्वन करते हुए जीवन के सर्वानंदमय मधुमय क्षण का उपभोग करते हुए क्रौञ्चयुगल (सारसमिथुन) में से नरक्रौञ्च को जब एक निर्दय निषाद ने मार डाला था, तभी सांसारिकता से विरक्त, स्वभावतः आत्माराम आदिकवि वाल्मीकि के चलनी बने हृदय से यह श्लोक फूट पड़ा था।

संस्कृत-साहित्य में भक्तिरस की अभिनव-योजना

डा० गीतारानी शुक्ला, लखनऊ

संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की है, यथा- काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारितथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः' कहकर भक्ति को भाव की कोटि में परिगणित किया है। भक्ति को रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वैष्णवाचार्यों को है। चैतन्यमत भक्तिप्रधान धर्म है, इसमें कृष्णभक्ति को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है। भक्ति-तत्त्व को रस के रूप में मान्यता प्रदान करना चैतन्य के भक्ति-सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

क्षेमेन्द्रव्यासदासकृत सुवृत्ततिलक

डा० रानी मजूमदार, अलीगढ़

छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ प्राचीन समय से विद्यमान हैं—पिङ्गल-रचित छन्दःसूत्र, जनाश्रय का छन्दोविचिति, जयदेवविरचित जयदामा, हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासन, केदारभट्टरचित वृत्तरत्नाकर आदि। इनके अतिरिक्त भरत ने भी अपने नाट्य-शास्त्र के चौदहवें तथा पन्द्रहवें अध्याय में कुछ छन्दों का वर्णन किया है। अग्नि-पुराण के ३२८-३३५ अध्याय छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित हैं।

सम्भवतः कात्यायन ने भी छन्दःशास्त्र पर आधारित कोई ग्रन्थ लिखा होगा जो अब उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त ने कुछ छन्दों के प्रयोग के सन्दर्भ में कात्यायन के श्लोक को उद्धृत किया है।

सुभद्राधनञ्जय नाटक में रस-योजना

कु० पूनम शर्मा, कुरुक्षेत्र

केरलाधिपति कुलशेखरवर्मन् द्वारा विरचित 'सुभद्राधनञ्जयम्' नाटक महाभारत में वर्णित सुभद्रा और अर्जुन के विवाह की घटना पर आधारित शृंगाररसप्रधान नाटक है । इसमें अयोग शृंगार की स्थिति में होने वाली दस कामदशाओं का सुन्दर चित्रण किया गया है । अंगीरस शृंगार के पोषण के लिए वीर, हास्य, रौद्र, अद्भुत इत्यादि अन्य रसों की अंग रूप में योजना की गई है । इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार इसमें अंगीरस और अंगरस का सुन्दर समायोजन उपलब्ध होता है ।

आचार्य भिक्षारामप्रणीत शब्दज्योत्स्ना

डा० श्रीकृष्ण शर्मा, कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्रभूमि के अन्तर्गत वारणा ग्राम के निवासी वेदवेदांगाचार्य श्री भिक्षाराम जी ने परम्परागत प्राचीन वैयाकरणों की मान्यताओं तथा पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, वामनजयादित्य, भट्टोजिदीक्षित आदि प्रौढ़ शब्दमनीषियों की रचनाओं का अनुशीलन करके इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शब्दज्योत्स्ना नामक शब्दानुशासन का प्रणयन किया । तेईस वर्षों के अध्यापनकाल के अनुभव के आधार पर आचार्य ने मानवीय अल्पापुष्प को ध्यान में रखते हुए अपने ग्रन्थ में अत्यन्त लाघव और सारल्य लाने का अनुपम प्रयास किया है । संस्कृतभाषा की विपुल शब्दराशि को मात्र १६०० सूत्रों में ही समेटने का प्रयत्न किया है ।

शब्दज्योत्स्ना के अधिकांश सूत्र सर्वथा मौलिक हैं, तथापि लक्ष्य की समानता के कारण कुछ सूत्र पाणिनीयप्रभृति व्याकरणों के सूत्रों से साम्य रखते हैं ।

मातृगुप्त के नाट्यशास्त्रीय मन्तव्यों का विवेचन

डा० (श्रीमती) अरुणा शर्मा, कुरुक्षेत्र

भारतीय नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा साहित्य-ग्रन्थों की टीकाओं में आचार्य मातृगुप्त के मतों का उल्लेख अनेकशः किया गया है । अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अभिनव-भारती टीका में, शारदातनय ने भावप्रकाशन में तथा सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में अनेक प्रसंगों में मातृगुप्त के मतों को उद्धृत किया है । अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने भी अपनी टीका में नाट्यशास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हुए मातृगुप्त को उद्धृत किया है । इन प्रकीर्ण उद्धरणों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः मातृगुप्त ने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा होगा ।

बुद्ध्यारम्भानुभाव की मान्यता

प्रो० कल्याण भारती, जोधपुर

नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरत तथा इनके पूर्व विद्यमान कोहल, नन्दी आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण अंग रस-सिद्धान्त पर काफी विमर्श किया है। आचार्य भरत के अनुसार वाचिक, आंगिक व सात्विक क्रियाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं।

अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वकृतोऽभिनय इति। ना० शा० ७-५

धनञ्जय व विश्वनाथ ने इसके भेदों का उल्लख नहीं किया। दोनों ने इसे रस का कार्य कहा है।

नामकरण-विमर्श में निहित शास्त्रीय अवधारणाएँ

सत्येन्दु शर्मा, हाजीपुर

सोलह संस्कारों में परिगणित नामकरण-संस्कार पर मनुस्मृति आदि ग्रन्थों मे जो विधान निर्दिष्ट किये गये हैं, उससे शास्त्रकारों की यह स्पष्ट मान्यता सूचित होती है कि वह व्यक्तित्व पर नाम का प्रभाव निश्चय ही स्वीकर करता है। नामकरण– निर्देश के पीछे निहित इन्हीं शास्त्रीय अवधारणाओं का अध्ययन प्रस्तुत शोधपत्र का विषय है।

वेद में जल–चिकित्सा

डा० (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी, चण्डीगढ़

वेद में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल प्रभृति प्राकृतिक तत्त्वों को, उनकी दिव्य शक्तियों के कारण देव नाम से अभिहित किया गया है। इन दैवी शक्तियों द्वारा रोगोपचार का वर्णन वेद में विशद् रूप से पाया जाता है। उक्त प्राकृतिक तत्त्वों में से जल नित्य आहार की वस्तु होते हुए भी नैसर्गिक चिकित्सा का एक परम उपाय है। यह एक महौषध है जो जीवनशक्ति देने वाले अमृत के समान गुणकारी है और इसमें रोगनिवारण की एक अप्रतिम शक्ति है।

जल के भेषज-तत्त्व का वर्णन वेद में कई स्थलों पर पाया जाता है। तद्यथा—"आप इद् वा उ भेषजीरापो———(अथर्व० ३.७.५)" मंत्र में जल को औषध, रोग-कारणों का नाशक एवं समस्त रोगों का उन्मूलक कहा गया है।

अपभ्रंश की लौकिक नीतिपरक मुक्तक कविता

डा० राधेश्याम मिश्र, गाजियाबाद

प्रत्येक देश और काल में प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा मानवीय आकाँक्षाओं, लोकजीवन-गत आदर्शों और शाश्वत जीवन-मूल्यों की व्यंजना की है। यह व्यंजना कवि-कर्म का उच्चतम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि प्रबन्धात्मक रचनाओं के साथ-साथ स्वतन्त्र नीतिपरक मुक्तकों के द्वारा भी बड़ी प्रखरता से सम्भव हुई है। अपभ्रंश में लौकिक-भावपरक मुक्तक काव्य की कोई सम्पूर्ण कृति या संकलित रचना नहीं मिलती परन्तु सौभाग्य से संस्कृत और प्राकृत के 'स्वयम्भूच्छन्द', 'हेम-प्राकृत-व्याकरण, ''छन्दोऽनुशासन', 'प्राकृतपैंगलम्' आदि ग्रन्थों में अपभ्रंश के लगभग एक सहस्र प्रकीर्ण रूप में उद्धृत पद्य मिलते हैं जिनमें से लगभग दो सौ पद्य नीतिपरक हैं।

समसामयिक परिप्रेक्ष्य में कुण्डलिनी साधना

डा. पीताम्बर झा

भारतीय आध्यात्मिक साधना के प्रमुख दो मार्गों–प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग— में से निवृत्तिमर्गी अधिकाँश सन्तों एवं विचारकों ने साधकों के लिए देहात्मदृष्टि को सभी अनर्थों का मूल माना है। उनका कथन है कि मुमुक्षुओं को यथासम्भव देहचिन्तन से विरत होकर आत्मचिन्तन में ही रत रहना चाहिए। दूसरी ओर प्रवृत्तिमार्गी विचारकों एवं हठयोगियों ने मानवदेह की उपयोगिता को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि यह रक्तमांसमय मानवशरीर ही कर्मदेह है, इसके बिना कर्मसाधन नही हो सकता। अतः इस मनुष्यशरीर के द्वारा यदि शुभाशुभ कर्मों का सञ्चय न किया जाए, तो अध्यात्ममार्ग पर अग्रसर होना सम्भव ही नहीं होगा।

अग्निशिखासम्भूता पाञ्चाली

डा. ओम्प्रकाश पाण्डेय, लखनऊ

महाभारत में द्रौपदी के जन्म का जो विवरण मिलता है, वह अत्यन्त अस्वाभाविक होने के कारण विवाद का आस्पद है। तदनुसार द्रोणाचार्य के द्वारा अपमानित एवं क्षुब्ध होकर पाञ्चालनरेश यज्ञसेन द्रुपद ने पुत्रफलक जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया, उसकी वेदी से धृष्टद्युम्न संज्ञक पुत्र और कृष्णा नाम्नी पुत्री उत्पन्न हुई। कालान्तर से पाञ्चाली, याज्ञसेनी और द्रौपदी प्रभृति नाम भी इसी कन्या के पड़े।

विचारणीय वस्तु यही यज्ञवेदी है, जिसके अक्षरशः शब्दार्थ को ग्रहण करने पर द्रौपदी की उत्पत्ति स्थूल हवनकुण्ड से हुई लगती है, किन्तु प्रजनन की सामान्य प्रक्रिया के विरुद्ध होने के कारण अविश्वसनीय प्रतीत होती है।

आसन—परम्परागत क्रिया और प्रतिक्रिया

सर्वेशकुमार दुबे, नई दिल्ली

आज स्वास्थ्य सम्बन्धी विषम परिस्थितियों तथा अन्य कारणों से आसनों का महत्त्व बढ़ रहा है। उपयोगितावादी दृष्टि के कारण आज हमें प्रत्येक घर में 'आसन शिक्षक' दिखाई पड़ रहे हैं।

पतंजलि के 'योगसूत्र' में साधनपाद के ४६वें सूत्र (स्थिर सुखमासनम्) में उनका मूल उद्देश्य मानव की विवशता, असहायता, भय, संत्रास, कुण्ठा आदि को दूर कर मानवशरीर को स्थिर कर, मानव-मन को प्रसन्न करना है जिससे मानव कठिनाइयों से हार कर न बैठे। ४७वें सूत्र (प्रयत्नशैथिल्यानन्त्य समापतिभ्याम्) में किसी बीमारी के कारण, धनलाभ के कारण या आडम्बरप्रदर्शन के कारण आसन न करने पर बल दिया गया है।

वाक्यपदीय में अधिकरण कारक

ब्रह्मदेव विद्यालंकार, कुरुक्षेत्र

व्याकरण-दर्शन के आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रकीर्ण-काण्डान्तर्गत साधन समुद्देश' नामक प्रकारण में सप्तविध कारकशक्तियों का ऊहापोहात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कर्तृ, कर्म आदि व्यपदेश-भेद से छ. और शेषव्यपदेश-भेद मे युक्त सप्तमी 'साधन' (कारक) शक्ति मानी है (कर्तृकर्मकरणादिव्यपदेशभेदेन षट्, शेषव्यपदेशभेदेन च सप्तमी इत्येवं सप्तकारक-शक्तय: अम्बाकर्त्री व्याख्या ३.७.४४ । इनमें अन्यतम है--अधिकरण कारक, जिसको भर्तृहरि ने परिभाषित किया है।

वैदिक आख्यान और आचार्य यास्क

डा० मानसिंह, कुरुक्षेत्र

आचार्य यास्क के अनुसार अर्थद्रष्टा ऋषि की स्वदृष्ट अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसे आख्यान (कथा) से संयुक्त करने में प्रीति होती है। ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता (निरुक्त १०-१०-४६)। जिसमे स्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ अन्य होता है और उसके मनोरम सम्प्रेषणार्थ कल्पित इतिहास, आख्यायिका आदि मुख्यार्थ उससे भिन्न; उसे आधुनिक अर्थ में वास्तविक इतिहास नहीं माना जा सकता। 'निरुक्त-समुच्चय' के कर्त्ता आचार्य वररुचि भी मन्त्रगत आख्यानों को औपचारिक ही मानते हैं।

अपभ्रंश की लौकिक नीतिपरक मुक्तक कविता

डा० राधेश्याम मिश्र, गाजियाबाद

प्रत्येक देश और काल में प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं, लोक जीवन-गत आदर्शों और शाश्वत जीवन-मूल्यों की व्यंजना की है। यह व्यंजना कवि-कर्म का उच्चतम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि प्रबन्धात्मक रचनाओं के साथ-साथ स्वतंत्र नीतिपरक मुक्तकों के द्वारा भी बड़ी प्रखरता से संभव हुई है। अपभ्रंश में लौकिक-भावपरक मुक्तक काव्य की कोई सम्पूर्ण कृति या संकलित रचना नही मिलती है ।

प्राचीन और मध्यकालीन भारत में गतिकी

विकाशकुमार पाठक, भागलपुर

गति के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन वैशेषिक दृष्टान्त में ईसा के ३०० वर्ष पहले हुआ था। दुर्भाग्यवश, उसके बाद गति की प्रकृति पर कोई भी अध्ययन ६०० ई० तक नही हुआ। ६०० ई० मे प्रशस्तपाद ने अपने पदार्थ-धर्मसग्रह में पदार्थ की गति के जिन विशिष्ट गुणों को परिभाषित किया है, वे इस प्रकार है :—

(१) एकद्रव्यत्व (२) क्षणिकत्व (३) अगुणत्व (४) मूर्तद्रव्यवृत्तित्व (५) गुरुत्व-द्रवत्व-प्रयत्न-संयोगजत्व (६) स्वकार्य-सयोग-विरोधित्व (७) संयोग-विभाग-निरपेक्षकारण (८) असमवायी-कारणत्व (९) स्वपराश्रय-समवेतकार्यारम्भकत्व (१०) द्रव्यनारारम्भकत्व (११) समानजातीय नारारम्भकत्व (१२) प्रतिनियत-जातीयोगित्व-दिविशिष्ट-कार्यारम्भकत्व। मैंने इस शोधपत्र में गति के उपर्युक्त विशिष्ट गुणों का आधुनिक गतिकी के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है।

वृहद्त्रयी में सांगीतिक तत्व

श्रीमती वसुन्धरा वसन्त कान्हे, रायपुर

वस्तुतः सुश्रुत चरक तथा वाग्भट द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में सांगीतिक तत्वों की खोज, सागर से अमृत निकालने का भगीरथ प्रयास है। किन्तु विद्वानों मे इसे यथा-शक्ति संभव बनाने का प्रयास किया है।

"......सूत्रस्तेवास्ति मे गतिः" कालिदास के उक्त कथन के अनुसार "विसंज्ञ श्रावयेत् वेणुम्" जैसे कुछ स्थलों का दिग्दर्शन इस लेख में करते हुए उक्त विशाल विषय पर चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

बोधगया से प्राप्त अभिलेखों का अध्ययन

राजीवकुमार, बोधगया

बोधगया गया शहर से १२ कि० मी० दक्षिण निरंजना (निलाजन) नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है। यह बुद्धकालीन उरूवेला ग्राम है जहाँ गौतम सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। गौतम सिद्धार्थ के बुद्धत्व प्राप्ति को स्मारकरूप प्रदान करने के लिए यहाँ महाबोधि मंदिर का निर्माण करवाया गया जो स्थापत्य तथा शिल्पकला का अनुपम उदाहरण है। मौर्य सम्राट् अशोक के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने यहाँ आकर एक विहार, वज्रासन तथा वेष्टिणियों का निर्माण कराकर इस बौद्ध स्थान की नींव डाली थी। वर्तमान समय में विद्यमान मदिर गुप्तकाल में निर्मित माना जाता है।

कालिदास के नाटकों में सामाजिक वर्ग

दिनेशचन्द्र चौबीसा, उदयपुर

लोकजीवन से जुड़े सामाजिक पक्षों को पात्रों पर आरोपित कर अनुकरण रूप तात्कालिक घटनावृत्त की जीवन्त प्रस्तुति नाटक है। नाटक का लेखन और प्रदर्शन समाज में ही होता है। अतः नाटक में से समाज को तथा समाज मे से नाटक को पृथक् करके नही देखा जा सकता है। संस्कृत नाटकों को लेकर एक प्रश्न बार-बार उठता है कि नाटककार सामाजिक वर्ग को साथ लेकर क्यो नही चला, वह व्यक्तिवादी निरकुंश शक्तियों तक ही सीमित क्यों रहा ? राजपरिवारो के प्रेम-वैवाहिक कथानकों से उनके जीवनस्तर, सुख-समृद्धि, ऐश्वर्य-विलास व रति-राग को लिखता गया और इससे सामाजिक वर्ग अलग-थलग पड़ गया।

संस्कृत रूपकों में प्रकरण की परम्परा

डा० आभा पाण्डेय

संस्कृत में नाटक और प्रकरण—रूपक की दो प्रतिनिधि विधाएँ है, जिनमें प्रकृति और उद्देश्य की दृष्टि से प्रारम्भ से ही अन्तर रहा है। वस्तुतः ये सस्कृत-नाट्य की दो स्वतंत्र धाराओं के चरम विकसित स्वरूप हैं, अतः इनमें कथावस्तु, पात्र, आन्तरचेतना तथा समग्र नाटकीय वातावरण की दृष्टि से प्रभूत अन्तर पाया जाता है।

नाटक आदर्शोन्मुखी विधा है, जो आदर्श जीवन का भव्य तथा उदात्त चित्रण करती है।

लेनिनामृत—एक समीक्षा

महाकवि पदमशास्त्री ने अत्यंत सुप्रसिद्ध लेनिनामृत' नामक महाकाव्य की रचना की है। इस महाकाव्य में कवि ने मार्क्सवादी नेता श्री लेनिन का चरित्र और रूस देश की राजनैतिक जनक्रांति का विस्तृत वर्णन १५ सर्गों मे किया है। आर्य समाजी विद्वान श्री शास्त्रीजी मार्क्सवाद के सिद्धांत से प्रभावित थे। आज भी मानव-समूह के कल्याण और विकास के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आवश्यकता है, इसीलिए शास्त्रीजी ने अपने महाकाव्य में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

सिद्धार्थ गौतम की प्रव्रज्या

डा० प्रा० बालचंद्र खांडेकर, नागपुर

सिद्धार्थ गौतम ने प्रव्रज्या ली उसका कारण घरका निवास जंजाल है, मलका मार्ग है, प्रव्रज्या खुला मैदान है, विषयोपभोगमे दोष और नैहकाम्यमें निर्भयता देखकर तपाचरण के लिए निकल पड़े। प्रव्रज्या लेकर उन्होंने कायासे पापकर्म वर्ज्य किए और वाचसिक पाप छोड़कर, अपनी उपजीविका शुद्ध रखी। हाथ में धारण किए दण्ड से भय उत्पन्न हुआ है। परस्परमें कलह करने वाले लोगों की ओर देखकर संवेग प्राप्त हुआ। अल्प पानी मे तड़फडनेवाली मछलीके तरह आपसमें विरोध करके तड़फड़ करने वाले लोगों को देखकर अंतःकरण में भय निर्माण हुआ, यह लोक असार है, सब दिशाएँ कंपित हो रही हैं, इसमें आश्रय की जगह प्राप्त न हो सकी और अंत तक यह लोग संघर्ष कर रहे—यह देखकर संसारकी अत्यंत घृणा आयी।

गोदादेवी की रचनाओं में प्रपत्ति

श्रीवैष्णव धर्म और दर्शन की परम्परा में प्रपत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मोक्ष के चार साधनों—कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा प्रपत्ति में से प्रपत्ति को सर्वोत्कृष्ट साधन स्वीकार किया गया है। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में निरूपित प्रपत्ति का मुख्य प्रेरणा-स्रोत आलवार भक्तों की रचनाएँ हैं। 'आलवार' संख्या में बारह थे। इन बारह आलवारों में गोदादेवी का अपना विशिष्ट स्थान है। वे बाल्यकाल से ही भगवान् के प्रति अनुरक्त थीं। उनका हृदय भगवान के प्रति प्रेम तथा समर्पण से परिपूर्ण था।

जैन-सम्मत अहिंसा—आधुनिक सन्दर्भ में

डा० प्रभावती चौधरी, जोधपुर

जैन दर्शन में 'अहिंसा' को सर्वोच्च महाव्रत के रूप में ग्रहण किया गया है। अहिंसा तत्त्व का जैसा सूक्ष्म विवेचन जैनग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र नहीं होता। पृथ्वीकायिकादि जीवों में भी हिंसा का निषेध जैनाचार की महती विशेषता है। हिंसा, अनाचार, अकाल, अतिवृष्टि आदि विपत्तियों से त्रस्त मानवता के लिए जैनसम्मत अहिंसा प्रचण्ड-गर्मी में शीतल बयार के सदृश उपादेय एवं परमावश्यक है। जैनदर्शन में सामान्यजन के लिए प्रतिपादित अणुव्रत मानव संस्कृति को प्राकृतिक विपदाओं से तथा मानुषी विपत्ति से बचा सकने में समर्थ है। प्रस्तुत निबन्ध में अहिंसा के स्वरूप एवं महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए आधुनिक काल में उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय साहित्य में नारी

डा० प्रभावती चौधरी, जोधपुर

भारतीय साहित्य में नारी सदा पूजनीया रही है। कवियों की दृष्टि में नारी माया-सी दुर्बोध, प्रकृति-सी बहुरूपी एवं सहानुभूति-सी सरल रही है। मानव का नारी के साथ शारीरिक, रागात्मक तथा धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण नारी के विभिन्न स्वरूप-भेद हुए एवं उनके सूचकशब्दों की अलग-अलग सृष्टि हुई। जिस तरह एक छोटे-से ओस-बिन्दु में सम्पूर्ण सूर्य-मण्डल प्रतिबिम्बित हो जाता है उसी तरह नारीवाचक छोटे से छोटे शब्द में भी उसकी जाति, गुण, क्रिया अथवा इच्छा झलक जाती है। साहित्य में नारी को विशिष्ट स्थान दिया गया है। नायिका, उपनायिका, प्रतिनायिका, सहनायिका आदि विभिन्न रूपों में वह सदा चित्रित की जाती रही है।

सुत्तनिपात की उपमाओं का वैशिष्ट्य

डा० रामनारायण सिंह यादव, गया

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार भावों के विशदीकरण के लिए उपमाओं का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। उपमाओं का उपयोग वैदिककाल से लेकर आज तक सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय में दृष्टिगत होता है। भारतीय मनीषियों ने इसे अलंकारों का शिरोरत्न और काव्यसम्पदा का सर्वस्व कहा है। मध्यभारतीय आर्यभाषा पालि में भी भगवान् बुद्ध ने देशना के क्रम में तथ्यों के स्पष्टीकरण तथा बोधगम्यता के लिए उपमाओं का प्रयोग किया है।

कालिदास के महाकाव्यों में यमक—एक अध्ययन

डा० (श्रीमती) पूनम जैन, सहारनपुर

शब्दालंकारों में यमक अलंकार एक महत्त्वपूर्ण तथापि विवादास्पद अलंकार है, जिसका विवेचन आद्याचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन आचार्य कर्णपूर तक ने भी किया है। इसकी विवादास्पदता इसी बात से स्पष्ट होती है कि एक ओर जहाँ दण्डी, भोज आदि आचार्यों ने इसका विस्तृत वर्णन किया है, वहीं उद्भट, अप्पय दीक्षित तथा पण्डित जगन्नाथ ने इसे पूर्ण परित्याज्य माना है। आचार्य मम्मट ने यमक को 'गन्ने की गांठ' के समान कहकर इसकी रस-बाधकता का प्रतिपादन किया।

वस्तुत: सैद्धान्तिक रूप से यमक की रस-बाधक रूप में जो समालोचना की गयी है, काव्यों में यमक-प्रयोग को देखकर यह उचित प्रतीत नहीं होती।

वैयाकरणभूषणसार के आधार पर निपातार्थ-विवेचन

डा० अरविन्दकुमार, कुरुक्षेत्र

निपातों की अर्थ-वाचकता अथवा द्योतकता के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों में प्राचीनकाल से ही मतभेद है। वैयाकरण, विशेषत: नव्य वैयाकरण, निपातों को वाचक न मानकर द्योतक मानने के पक्ष में है। प्रस्तुत निबन्ध में कौण्डभट्ट-कृत वैयाकरणभूषणसार के 'निपातार्थनिर्णय' के आधार पर निपातों के वाचकत्व और द्योतकत्व पक्षों का अध्ययन किया गया है।

यास्क तथा उत्तरवर्त्ती विद्वानों की दृष्टि में वैदिक देवता

डा० गणेशदत्त भारद्वाज, होशियारपुर

वैदिक देवता के स्वरूप के बारे में आचार्य यास्क से लेकर दयानन्द, अरविन्द, अय्यर, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा मैक्समूलर, मैक्डॉनल, ब्लूमफील्ड प्रभृति विद्वानों में परस्पर मतभेद दिखायी पड़ता है, किन्तु ये सभी विचारक यास्काचार्य के 'प्राकृतिक सिद्धान्त' मत से न्यूनाधिक्य रूप में प्रभावित दिखायी पड़ते हैं।

एकदेववाद और बहुदेववाद को लेकर भी पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों ने अपने-अपने मत की पुष्टि में वैदिक संहिताओं को ही आधार बनाया है, जहाँ मैक्समूलर 'हेनोथीज्म' के प्रतिपादक हैं, वहाँ मैक्डॉनल एकदेववाद के समर्थक हैं।

महापुराण की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

डा॰ सुदर्शन मिश्र, भोजपुर

भारत का सांस्कृतिक जीवन आज से कई हजार वर्ष पहले से आरम्भ होता है। मोहनजोदड़ो आदि की खुदाई में ईसा के सहस्रों वर्ष पूर्व की संस्कृति का पता चला है। यों भारतीय संस्कृति का मूलस्रोत वेदकालीन संस्कृति ही मानी जाती है। देववाद और यज्ञवाद ही इस संस्कृति के मूल आधार थे। जब वेद तथा उपनिषदों के ऊँचे विचार साधारण जनता की समझ से बाहर की बात हो गयी, तब भारत में श्रमण-परम्परा का विकास हुआ। यह श्रमण-परम्परा भी मुख्यत: दो रूपों में विकसित हुई—बौद्ध और जैन।

सूत्रकृतांग में चर्चित मौलिक जैन सिद्धान्त

डा० रामजी राय, आरा

सूत्रकृतांग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय के द्वारा एकान्तवादी दर्शनों का खंडन कर अनेकान्त की स्थापना की गई है। इसके आरम्भ में ही वर्णित है कि बोध प्राप्त करना चाहिए और परिग्रह के बन्धन को जानकर उसे तोड़ने का प्रयास किया जाना चाहिए।

सूत्रकृतांग में जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, ज्ञान आदि तत्वों का अनेक स्थलों पर निरूपण एवं प्रतिपादन किया गया है। आचार एवं अनाचार का स्वरूप बतलाने के संदर्भ में सर्वप्रथम लोक और अलोक का स्वरूप बतलाया गया है। फिर जीव और अजीव के अस्तित्व पर विचार किया गया है।

मेघदूत में कालिदास की समाजसंहिता

रामसेवक पाण्डेय

काव्य या साहित्य समाज का दर्पण होता है। मेघदूत में महाकवि कालिदास ने मेघ के द्वारा अपनी प्रियतमा के पास यक्ष के संदेश-प्रेषण में भी कतिपय तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं की ओर संकेत किया है। उज्जयिनी तथा अलका की रीति, धार्मिक भावना, धर्मानुष्ठान, प्रेम, व्यवहार, वासना, वेश्या, युवतियाँ, सौन्दर्य-बोध, नारी के विविध स्वरूप, पारिवारिक सम्बन्ध, जातिगत भेद-भाव, बाल-क्रीड़ा, अपराध, दण्ड विधान, अतिथि-सत्कार, दाम्पत्य जीवन, आदि विषयों पर यहाँ पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वैदिक सृष्टि-विज्ञान और नवीन वैज्ञानिक सत्य

डा० मनोहरलाल गुप्त, भरतपुर

वेद पूर्ण सृष्टि-विज्ञान है। वेद में सृष्टिउत्पत्ति से पहले की अवस्था से लेकर सृष्टि-उत्पत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं का बड़ा विशद वर्णन है। यह सृष्टि किस मूलतत्व से बनी, किन-किन देव-शक्तियों ने इसके निर्माण में भाग लिया और यह अपने वर्तमानस्वरूप में किस प्रकार आई, इन सभी सृष्टिविषयक प्रश्नों का समाधान वेद में उपलब्ध होता है। सृष्टि का कोई गूढ़ से गूढ़ रहस्य ऐसा नहीं है जो वेद में प्रकट न हुआ हो। अनेक ऐसे रहस्य जिन्हें जानने के लिये आधुनिक विज्ञान आज जूझ रहा है, वेद में सहजभाव से प्रकट किये गये हैं।

कालिदास के रूपकों की भाषासंरचना में प्रयुक्त कृत प्रत्ययों का महत्व

डा० रमानाथ पाण्डेय, शाहदरा

कालिदास के रूपकों की भाषा-संरचना का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उनकी भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक पद उनकी भाषा की क्षमता का पूर्ण परिचय देते हैं। उन्होंने जहाँ अत्यन्त लोकप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है वहीं अनेक शब्दों का प्रयोग अपनी प्रतिभा से भी किया है। वैयाकरणिक दृष्टि से उन्होंने शब्द के पाँचों भेदों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया एवं अवयय का अत्यन्त कुशलता से प्रयोग किया है तथापि कृत प्रत्ययों से बने शब्द उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं।

महावीर : उनका जीवन-दर्शन

डा० चन्द्रदेव राय, आरा

मानवजीवन के प्रति जैन दृष्टिकोण अच्छी तरह समझा जा सकता है। जीवन के प्रति जैन दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य है—जैन अध्यात्म और आचार-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों की उद्देश्यपूर्ण और न्यायसंगत व्याख्या। जैन-जीवन के उस दृष्टि-कोण से नहीं जो प्रायः आज के जैनसमाज में दिखायी देता है। आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म-पथ पर प्रत्येक आत्मा की विकास की विभिन्न श्रेणियों (गुणस्थान) के अनुरूप एक निश्चित स्थिति है। यह स्थिति उसके कर्मों की सीमाओं से बंधी हुई है।

'आंग्लभाषा खण्ड'

Illustrations of Indian Aesthetics

Dr. Sambhunath Samanta, Bankura (W.B.)

In illustrating the principles enunciated by Sanskrit Literary Theory most of the critics do not cite veres from noted specimens of literary art, but from compositions of lesser known poets, who could not achieve recognition from the critical contemporary world. In most of these stray stanzas one is confronted with the common world and hard reality, and is pleased to trace his identity with the characters depicted. What is more striking is that these stanzas portray free love, that constitutes the starting point of Romance as also the hunger of the body to a great extent. Indian attitude never emphasises the hunger of the body.

Images of Gods in Isanashivgurudevpaddhati

The study of the Silpatexts highlight to the field of Sculpture, Brchitecture and Painting. Over and above the Silpatexts, agamas and tantras do acquire a significant place in this field. Pioneer scholars like V. Raghavan, Stella Kramrisch, Anand Coomarswamy brought to light some Silpa texts. These treatises help us in appreciating the sculptures, paintings and so on. Hence a study of Canonical texts appears to be indispensable. It should however be remembered that the study of Silpatexts has not yet been exhaustive.

Bhedadhikkara of Nrsimhasrama

Dr. E. Easwaran Nampoothiry, Kerala

Bheda-dhikkara:— The Bhedadhikkara has been edited with Narayanasrama's commentary called Bheda-dhikkarasatkriya. The edition also contains the commentary called Upakramaparakrama by Appayyadiksita. In the Bheda-dhikkara, the author Nrsimha-srama emphasises the theory that the individual soul is not different from the antahkarana. (antahkaranatiriktah aham iti pratiyamanah jivah parasmanna bhidyate cetanatvad, padarthatvad, va, brahmavad) and he concludes that the individual soul itself is the Brahman based on the Sruti 'tat tvamasi'.

Death and Kalidasa

Dr. (Smt.) Krishna Dass, Bokaro

We think that Kalidasa is not left untouched, through any aspect, by the researchers, scholars and critics during the span of centuries. Now what about "Death ?" Let us discuss the view of Kalidasa regarding death and life after death. The poet who can make life so beautiful, can he draw a gracious picture of "death" too ?

Different types of Death :

1. Normal death
2. Accidental death
3. Diseased death
4. सशरीर स्वर्गयात्रा

Vedic Women : Their Status and Position

Dr. (Mrs.) Bidyut Lata Ray, Nayagarh, Puri, Orissa

The basic structures of human society rest equally on the supports of man and woman. Like two wheels of a cart, they form the constituent parts of our family. Without one, the other is incomplete. Woman is the highest thought of the creator. She predominates over man in her shape, physique, works, virtues and living etc. Here, an attempt has been made to throw light on the status and position of women during the time of the Vedas.

Dharmakirti and Sankara

Karunesh Shukla, Gorakhpur

The Seventh-Eighth Century of the Christian Era witnessed the advent of first-rate thinkers in almost all shades of philosophical thinking. Thus, while, Dharmakirti flourished on the scene in the Sramana fold and Kumarila and Sankara belonged to the Vedic fold relying mainly on the interpretation of Srutis from the Karma-Kanda and the Jnanakanda respectively. The advocated and elucidated the impersonal origin of the Vedic scriptures as also of phonemes and words (Varnas, Sabdas).

An Appraisal of Parmiti in Jaina Logic

Dr. G. L. Suthar, Jodhpur (Raj.)

The Vedic, Buddhist and Jaina logicians have divergent views regarding the number, definition, object and resultant of pramanas. Dharmottara, the Buddhist logician, and Salikanatha, the Mimamsist, have clearly referred to the fourfold conflicting opinion— "Caturdha Catra vipratipattih Samkhyalaksanagocaraphalavisaya" (NBT, p. 35), "Svarupasamkhyarthaphalesu vadibhih, Yato vivada bahudha vitenire." (PP,p. 112).

Srauta And Philosophy : Some Conceptual Problems

Dr. (Mrs.) Mangala Mirasdar, Pune

The concepts, ritual or philosophical, occurring in the Upanisads, must be justified according to their specific backgrounds. As the knowledge of philosophy is rooted in Sraudharma, it is difficult to judge the philosophical concepts without the study of Srauta rites. Here some concepts, some rituals and some similies are discussed which prove to be a link between Srautadharma and Philosophy.

State of Dream : A Philosopher's View

Piyati Palit

To Advaita-vedantins this world is nothing but a state, parallel to dream. What they basically think about the physical state of dream, has been concisely epitomised in the Samkara-bhasya of Chhandogyopanisat. Samkara has divided mental status in sleep into two viz. svapna and susupti, which are also very much in common with Caraka-samhita and tantras. In svapnavastha how mind happens to be active in its own way has been described in a very lucid way. Does his realisation get its spontaniety in the modern concept of dream ? And, how would he explain a philosophical theory through a purely physical state, following other upanisats and mandukya-karika ?

Vedic and Upanisadic Concept of Maya

Prof. B. B. Chaubey, Hoshiarpur

What the word maya connotes in Indian philosophy is althrough not found in the Vedas, yet its germ is not absolutely unknown to the latter. The sense of maya as illusion is definitely a later development. The word maya with its many declensional forms, such as-maya, mayam, mayaya, mayabhih, etc. occurs in the Samhitas, Brahmanas, Aranyakas, Upanisads and Vedanga literature. The gradual development in the connotation of the word maya can better be understood from these literatures. An attempt, therefore, has been made in this paper to discuss the concept of maya as found in the Vedic and Upanisadic Literatures.

Bana's Art of Biography

Kshirod Chandra Dash, Sambalpur

Traditional Sanskrit Criticism has counted Harsacarita under the literary genre akhyayika. In this article Indian literary criticism is reoriented by the application of European critical methods. Harsacarita is considered the biography of a political hero like the Queen Victoria of Lytton Strachey and is perhaps the most ideal example of Sanskrit classical biography in the current critical vocabulary. A biographer looks deep down into the soul of the character by impartial assessment. He cultivates tolerance for human frailty, sympathy for human nature and love for mankind in general.

Does Mimamsa Deny God ?

Dr. Rajendra Nath Sarma, Assam

It is generally believed that the system of Mimamsa does not admit God. In the Siddhantabindu, Madhusudana Sarasvati has stated that according to the Mimamsakas, there is no God possessing omniscience etc. Kumarila, in his Slokavarttika, refutes the view that God is the creator and destroyer of the world. This doubt arises in one's mind due to the fact that Jaimini has not discussed about God in any of his Sutras.

In the Sambandhaksepaparihara chapter of the Brhati, Prabhakara Misra does not deny God.

Tantric Theory of Meaning

Dr. Keshab Chandra Dash, Puri

The very concept of mantra is based on a principle of identity. The "identity" is multidimensional which serves as a transformative force between the object of cognition and the cognition itself.

We have the following observations as regards the Tantric theory of meaning :

1. Tantric theory of language has three Identifiable aspects, namely, : (a) language of discourse, (b) language of mantra and (c) language of mystic element............

Sita, the personification of fertility

Gouri Sankar Bandyopadhyay, Bankura, W.B.

Sita, mentioned in the Rgveda. was a goddess presiding over agriculture. In the Atharvaveda she is referred to as 'Parjanyapatni, (the wife of Parjanya, the god of rain, in the Vedic times) and as such reveals her mother—goddess character. Sita, the furrow personified, Is worshipped as a deity presiding over agriculture and fruits. Even in the Arthasastra Sita is said to be as residing in the seeds and plants. In the Ramayana, Sita is said to have sprung from Mother Earth.

A Note on the use of Stobha in Vedic Music

Dr. Maitreyee Bora

One of the noteworthy characteristics of the Saman i. e. Vedic music is the use of the Stobhas. The Stobhas used in Saman-singing are usually either meaningless sounds or words or sentences that are out of context. The rk upon which a saman is sung is of fixed dimension with a fixed number of syllables and quarters. The rk is made suitable for singing by modifying it with the help of a number of musical modulations of which the Stobha is ne.

Some Thoughts on Women Character in the works of Asvaghosa and Vasa

Dr. Ramjiban Acharyya, Calcutta

1. Introduction about two famous Pre-Kalidasian poets Asvaghosa and Vasa.
2. (a) On this topic we shall take the two epics-Buddhacharitam and Saundaranandam of Asvaghosha and ten dramas of Vasa.

   The women characters in Buddhacharitam—

   Bilasinyah, Siddharthastriyah, Mayadevi, Yasodhara, Gautami.

Gotra System in India

Dr. Bimalkumar Mukhopadhyay, Bhagalpur

Semantically, 'gotra' has been conveying varied senses from the period of the Rgveda Samhita down to our times. The semantical variety is an outcome of the generative trait of a living organism.

The term itself or any of its synonym can never take us to any compatible truth, and therefore, its explanation in historical and comparative context comes to be necessary.

It will be evident from the element and the transforming agent, the concept and the function, the static and the dynamic character of 'gotra' that it is but an Indian counter-part of the totemic system found among other pre-literate people throughout the world.

The Word 'Hari' in the RG Veda

Dr. Biswanath Mukhopadhyay, Burdwan

In a number of instances excepting an entire hymn (Rv. 10.96), the word 'Hari' occurs in the Rgveda, denoting meanings like the yellow colour, the sun, the rays of the sun, the soma and the steeds of the god Indra. Even the seer of the above-mentioned hymn is known as 'Sarva hari', the son of Indra. But the sense denoting the yellow colour (i.e. radiance) stands prominent amidst its varied connotations.

Akrtigana in Sanskrit Grammar

Sri Sumanta Sen, Calcutta

Words like adi, prabhrti are used in grammatical rules to indicate that those rules are to be extended to other words or cases which are not stated in these rules in question. This is known as the case of akrtigana in Sanskrit grammar. Examples–prakrtyadibhya upasamkhyanam; lomadipamadiprcchadibhyah-(V. 2. 100); lohitadidaj– (III.1.13). This term akrtigana is as old as the pratisakhyas. This akrtigana may be contrasted with the word vrt in the Dhatupatha to prevent any extension of the rule in question.

The Stotra-s of Srinarayanaguru

Dr. K. Vijayan, Kerala

Sri Narayana Guru is one of the outstanding philosopher poets of Kerala of the present century. He has enriched the local vernacular as well as Sanskrit by contributing nearly 65 works. His stotras in different languages form a class by themselves.

In order to describe the principle of Atman as he has realised it, and for the use of the devotees in general the Guru has composed a good number of stotra–s. Of them seven are in Sanskrit, another seven in Malayalam and one in Tamil.

Islam and the Attitude of Orientalists

E. B. Hasan

The Muslim Historians, Political Thinkers and Ulema devoted their studies in presenting the Islamic History of Muslim world and elaborated the cultural impact of the ISLAMIC SOCIETY in different parts of the world during 6th to 19th Century A.D. Ibn Khaldun; Ibn Hazm; Ibn Al–Khatib; Al–Masoodi, Al-Beruni and others in medieval period and Abdullah Inan, Husain Nasir, Umar Al- Nasir, Husain Hykal; Abu Zuhra; Ahmad Amin and Hameedullah in present days, have provided a vary authentic material on the subject based on original unpublished MSS.

Sanskrit Dramaturgy and Kalidasa

Ums Chakravarty, Shillong

Sanskrit dramaturgy started with Bharata's NATYASASTRA. In the treta-age when a total moral deterioration prevailed all over, the gods devised the art of drama which with its religious themes represented through acting, music and dance, would attract the people's mind and set it on the right path. It would also be a diversion for them when they are exhausted by the struggles of life, and the gods would look upon it like a toy.

The Missing Portion of the Pravajya Vastu (Mulasarvastivada) from Tibetan

Anandamayee Ghosh, Santiniketan

The Mulasarvastivada Vinaya preserved in Buddhist-Sanskrit has been edited and published by N. Dutt vide the Gilgit manuscripts. Unfortunately some portions of the Pravajya Vastu (from page No. 25f) are lost, (Vol.III Part IV p-25f, Tibetan bampo I pkg Edn. folio 16a:7ff). However, the Mulasarvastivada Vinaya was translated into Tibetan (c.9th century A.D) and in Chinese (703 A.D). The lost portion of the text has therefore, been reconstructed by translating from Tibetan and Chinese rendering.

The Tibetan translation is more faithful to the original in Indian language (rgya gar skd) on account of the Tibetan method of translation by letters.

Traces of the Origin of Garuda in Vedic Literature

Sri Mrityunjay Acharya, Burdwan

Legends of the Garuda as found in the post-vedic period had their sources in different vedic literature, such as Rg Veda Samhita, Taittiriya Samhita, Aitareya Brahmana and Satapatha Brahmana.

The present paper will reveal their gradual development with apt quotations from different sources.

Concept of Jivatman according to Kumarila Bhatta

Dr. Bhaktlnath Shukla, Vallabh Vidyanagar

Purva-Mimamsa treats the subject of sacrificial injunctions. Here sacrifices are regarded as means to heaven. This implies an agent or doer who does sacrifices.

There are two main schools, i.e.,

(i) The School of Kumarila Bhatta and

(ii) The School of Prabhakara.

Influence of Classical Indian Literature on Greek Fables

1. Aesop's fables–Their antiquity–Age of Aesop–Opinion of Benfers–That all the fables are European by nature.
2. Greek fables originated in India–Opinion of Maxmuller, Keith and Lin Utang ;
3. Fables as found in Jataka tales, Panchatantra, Mahabharata and other classical Indian literatures–opinion of E.J. Jacob.
4. Nature of Aesop's fables-Animals are prominent characters.
5. A comparative Study of fables found in Indian classical Sanskrit literature and in other classics (Jataka, Panchatantra, Mahabharata etc.) with the Greek fables.

Natys'astra and Bhasa-Nataka-Cakra

Radhavallabh Tripathi

The thirteen Trivandrum plays ascribed to Bhasa often violate or deviate from the dicta of Bharata's Natyas'astra (NS'). It is presumed that being anterior, Bhasa does not exibit the influence of NS'. Presentation of death scenes in Nataka type of plays, fights, sleep or dream scenes, presentation of a dhiralalita type of hero in a Nataka, very peculiar use of supernatural elements, the motif of invisibility of characters present on the stage and the use of rare forms of drama-these are some of the features in Bhasa's plays which establish his uniqueness and preclude his relationship with the text of NS' as we have it now.

Status of Women in Manus Smrit : A Critical Analysis

Smt. Asha Rani Tripathi, Shillong

Manu has been criticised much for his view regarding the dependence of women. However, a critical analysis will show that Manu was in favour of granting a great deal of independence to women. Manu as a law maker framed the rules which were in keeping with the conditions prevailing in society of that time. Manu Smriti contains a vivid account of the position of the women in family, her married life, relation with her husband, her public life, women's right towards property and the laws related to these.

Concept of the Paramatma-Pursusa according to Jiva-Goswami

Dr. (Miss) Devkanya Arya, Delhi

Jiva Goswami, the chief exponent of the Caitanya school of philosophy, accepts the Bhagavata Purana as the most authoritative scripture. The Absolute, therefore, according to him is the 'advaya-jnana-tattva' of the Bhagavata-purana, designated by three different names viz. Brahman, Paramatma and Bhagavan, graded primarily on the basis of the divine energy displayed by each form. The different designations are given to One indivisible Supreme Reality in order to emphasise a particular aspect at a particular place.

Concept of Tirtha In Vedic Literature

Dr. Ranvir Singh, Kurukshetra

The word 'tirtha' has occurred many times in Vedic Literature. Right from the Rgveda to the Vedangas, Sutras and Smrti Literature it has been used in many senses and has developed into a particular concept. In the epics and puranas it has got quite a different meanings and definite dimensions. The present paper is a humble attempt to examine the total references of the word and its meanings given by different commentators and modern scholars in its chronological and historical perspectives.

The Tamil Culture Depicted Through Kannagi By Ilango

Prof. Pon. Sourirajan, Tirupathi

The meaning of culture according to Mathew Donol, the three applications of the term culture according to T.S. Elliot. A few words on Ilanko, the author of Cilappathikaram and the creator of the character of Kannaki- a saint-but interested in building a Tamil nation and retaining and reforming its cultural heritage. How Ilanko carved the Kannaki character to achieve the end. Culture depicted through Kannakias an individual, as a member of the family, and a citizen of her society.

Vidvesa Bhakti in Adhyatma Ramayana

Dr. (Mrs) L. Kuppuswami

It means communion with the Lord through confrontation. This peculiar brand of devotion is a Bhagavata conception. Generally it is considered that only absorption resulting from a sense of Anukulya (favourableness) in the object of love, can be the genesis of devotion. It is a psychological fact that an enemy constantly broods over the opponent and that a devotee often thinks of the Lord only in spare moments. The antagonism produces such an intensity that it can have a transforming effect on the mind. By constant thinking of Krsna as their dreaded enemy, Kamsa, Sisupala became washed of all their sins and attained Him.

The deathland as described by Subandhu in his Vasavadatta

Although Sankrit poets are mostly reluctant to describe any terrible aspect of nature or some awful situations yet the writers on Katha-type of compositions do not hesitate to describe the dreadful situations in their works. Thus as Bana describe the dense forest and the devastating forest-fire similarly Subandhu's pen also became free in describing the horror of a deathland not to say of the description of the forest, the turbulent sea, the suicidal attempt of the hero and timultuous battle betwean the two armies in his treatise.

Ecology and Environment : Some Ancient Thoughts

The English word 'ecology' has its origin in the Greek word 'Ocologie' where 'okios' from Sanskrit 'okas' means a hcme Ecology therefore, by extension means environs or surroundings around the habitut. Ecology is thus a science of environs in respect ot living organims.

In the evolutionary history of mankind, we find that the environs have shaped the organisms and the living organisms in their turn shaped the environs.

A Note on Avyabhicaritatva

Dr. S. Revathy, Madras

Gangesa in his Tattvacintamani while discussing the definition of Vyapti states that it is not the significance of the term avyabhicara (avyabhicaritatva).

na tavadavyabhicaritatvam

This means that Vyapti is not lack of inconstancy (avyabhicara). That is difference from Vyapti is being predicated of with reference to the significance of the term avyabhicara (avyabhicaritatva).

Historicity in the Satapatha Brahmana

Dr. (Mrs) Santi Banerjee, Calcutta

In the field of the Vedic literature, the Satapatha-Brahmana stands as monumental in many respects. In spite of its religious character it is not devoid of social reflections along with geographical and political aspects. In course of describing the sacrificial details it affords us sufficient materials for reconstructing the history of the Aryans. It gives us definite geographical data regarding the progress of Aryan civilization frcm the North-West to the Eastern regions in the p st-rgvedic period; it informs us of some important tribes and States which became celebrated In the later Vedic and post-Vedic period such as the Matsyas, the Salvas, the Srnjayas and many others.

The Prolegomenon to the Metaphysics of Advaita

J. Krishnan, Madras

The purpose of any inquiry is to arrive at a definitive knowledge of the subject of inquiry. The Brahma-sutra-athato brahmajijnasa which prescribes the need for an inquiry into the nature of Brahman would have knowledge of Brahman as its fruit. The latter cannot be an end in itself. Its role is to remove ignorance. In order that the knowledge of Brahman would have relevance to the soul, it must be held that the knowledge of Brahman removes ignorance pertaining to the soul. This would be possible only when the so-called soul is non-different from Brahman.

Body-Soul Relation in Visistadvaita —A Critique

Dr. S. Padmanabhan, Madras

The Concept of sarira-sariri relation is a unique and an exclusively a Visistadvaita concept. According to this system the world that is constituted of cit and acit (sentient and non-sentient) forms the body of the Lord and that the Lord is the soul of it.

Glimpses of Grammar and Stylistics in Arthasastra, 2.10

Dr. Ramkrishna Bhattacharya, Calcutta

The purpose of 'this paper is to draw the attention of the students of linguistics to an almost wholly ignored section (2.10) of the Arthasastra of Kautilya. This section on edicts contains inter alia some very illuminating observations pertaining to grammar (harking back to the pre-Paninian tradition) and rules for composing letters, instructions, edicts etc. which are quite valuable for the study of stylistics.

Tantrasamuccaya—A Study

Dr. N.P. Unni, Kerala

The Tantrasamuccaya is a unique work dealing with temples and the rituals connected with the construction as well as with the rituals of worship.

The work is divided into twelve Patalas in each of which certain important topics are discussed from the point of view of a practising priest. A general sketch of the topics in the twelve sections may be given as follows: (i) Details regarding the selection of a Guru, the selection of the site for the construction of the temple, the ceremony called Vastubali to purify the site, the depositing ceremony of the Nidhikalasa, - a potful of riches, laying of the bricks, the placing of the foundation stone and the selection of suitable granite for the construction..........

Asvalayaniya Smrtiratna

Samiran Chandra Chakrabarti, Calcutta

On the basis of a manuscript, a xero-copy of which has recently been examined by me, some salient features of a hitherto unpublished work described in the colophons as Asvalayaniya Smrtiratna Dharmasastra will be discussed in the proposed paper.

Indian Philosophy and Religion

Dr. Kishori Ranjan Das, Birbhum

There is no created religion; all religions are traditonal - a continuity, rather a reformed revival. Christ, Buddha, Mohammad etc. all are Socio-religious reformers ; they did not create any religion. Religion was primarily originated from the sense of consciousness. The primitive men began to worship inanimate natural objects as deities in fear or love. The theory of The True–The God-The Beautiful-these three ideas had become adorable. Thus the path of religion had started.

The sages of the Vedas asked- "Kasmai devaya havisa vedhema". They heard the reply- 'Neha nanasti kincana'.

Theory of Knowledge: As the Saivites of Kashmir See

Dr Nirmal S. Mishra, Bhubaneswar

Man is a rational being. From hoary past, man has been inquisitive to know about his real nature and the nature of his surrounding world of matter and spirit. This drives him to ask questions like what, why, where from and how in order to get at the truth. All ancient Indian seekers of Truth held the visualisation of the truth as the Summum borum of their life. When they succeeded, they became the seers of Truth. As they explained their vision of Truth on the intellectual level, this was understood differently by different acaryas and this gave rise to different systems.

Proverbs in Mrcchakatika

Ms. Jaya G. Dandavatimath, Dharwad

There is hardly anything that a proverb doesn't teach. The proverb is a definition of good and bad, beautiful and ugly, purity and vulgarity and all other pair of opposites which exist in the society. The proverbs represent all the facets of life on the whole, that any society can have.

There is no language without a proverb and no community without a language. The inhabitants of a country are the pioneers of its literature. And hence, folk literature itself is original.

Contribution of Mimamsa to Pedagogy

Shripad Bhat

The principle of Anvitabhidhanavada of Prabhakara, presents contribution to the modern science of Pedagogy through its own significance. In fact, we can find the origin of micro-elements of language teachings in the old Mimamsa philosophy. This Anvitabhidhanavada contains mainly three elements.

1) direct method
2) avapa and udvapa
3) anvaya-vyatireka

Adhikara Sutras in Panini's Astadhyayi

Kanakalata Mishra, Cuttack

Panini's Grammar is wellknown for its economy of statements. To achieve economy, the Astadhyayi uses many devices, such as samjnas, "technical terms", paribhasas "metarules", anuvrtti "carrying over" and adhikaras "section heading". These devices help in formulating the rules as precisely and concisely as possible. In this monograph we are particularly concerned with anuvrtti which also includes adhikara as a special feature of anuvrtti.

Contribution of Ray Ramananda to Vaisnava Literature

Dr. Bhaba Shankar Mukherjee, Shantiniketan

Ramananda Raya or Ray Ramananda is one of the brightest names in the history of Vaisnava literature. He was the son of Bhavananda Raya of 15th century A.D., and an inhabitant of Orissa. From his childhood, he was attracted to the theological idea of Vaisnavism. Which resulted him to be the follower of Vaisnavism. In the later age he became an ardent devotee of Gaudiya Vaisnavism and staunch disciple of Sri Caitanya. For his philosophical and devotional thinking, he contributed so many literary works to the Vaisnava literature.

The Synonems Used in the Astadhyayi

Bhagyalata Pataskar, Pune

The words like abhiksnya, kriyasamabhihara, asevana (in anasevana) seem to be synonemous. Same is the case with the words jati-samanya, sabda-vacana-nama and some other groups of words.

In this paper I have tried to find out whether all these are true synonems, if so what is the type of these synonems.

Puranic Etymologies : Some Remarks

Dr. S. G. Kantawala. Baroda

Puranas are a rich and important branch of Sanskrit literature. They deal with not only the fivefold well-known topics, but they also deal with rajadharma etc. They give also some stories and legends, germs of some of which are traceable to the Vedic literature. In the course of their narration they try to explain some vocables by giving their etymological or derivational explanations. In this paper it is proposed to discuss the vocables marut, santanu and danda.

Bahularthaka-Kavyas in Sanskrit Literature

Dr. Kshitiswar Dash, Balasore

The Sanskrit grammarians are proverbial for their straining after brevity. They delight as much in the saving or economy of even a short vowel (matralaghavah) as in the birth of a son (putralabbah). It cannot perhaps be rightly opined that such a love of brevity of expression was the motive for the production of the Bahulartha. Such poems are written by means of Vakroti and slesa (double entendre) which is comprehended by the former. This slesa obsession is seen at its height in the Dvisamdhana poems and its ultimate result reached the zenith in the Bahularthaka-kavyas.

Tandava Karanas in Abhinaya Candrika

Maya Das

Tandava is the virtuous dancing. This is supposed to be composed by Tandu according to Bharata. Abhinaya Candrika is a treatise written on Odra nrtya exclusively. This treatise is priceless to the contemporary Odissi dance. Author of Abhinaya Candrika, presupposes all the earlier treatise. He picks out the elements of Odra nrtya and gives a realistic picture to the witnessed dancing.

The Indo-Aryan Sibilants

Upal Sen, Calcutta

The treatment of Indio-Aryan Sibilant has been a problem throughout the history of Indo-Aryan language-in its old, middle and modern stages. The first problem which generally attracts the minds of scholars, is the interchange of the sibilants, i.e. the dental becomes palatal or cerebral or vice versa. In the Vedas we see the interchanges between dental and p latal sibilants, e.g. Sru, 'flow' with sru as in sam yoh abhi Sravanta nah (R V, N.9 4). It has a variant in the Maitrayani-Samhita as sravantha.

Gaudia Vaishnavism

Rabinder Gupta, Calcutta

Vaishnava Philosophy has taken different shapes in different parts of India To see in broad perspective, Tirupati-cult also represents a shade of Vaishnav faith-the method of his Rajasik worship bears a special significance. Mirabai's Giridhari-cult proposes direct union with God. This 'Nagarbad' has a close similarity with 'Gaurnagarbad' of Narahari Sarkar, a close associate of Sri Caitanya who was better known as 'Mahapravu' to his disciples A general trend is seen in middle ages that various local sects emerged against Brahmanic culture and Scriptures.

A Note on the Measurement of the Life-Span of the Tathagata

Sanghasen Singh, Delhi

One of the ten Avyakata Panhas (Indeterminate Questions) put forth by Culamalunkyaputta to the Buddha himself as narrated in the Culamalunkyaputta Sutta of Majjhima Nikaya of the Theravada scripture was : 'Hoti Tathagato param marana, na va'. The Buddha is reported to have dismissed outright all those questions including the above one as futile, worthless and non-conducive to the attainment of summum bonum of life. The Buddha, on the other hand, is depicted in the Saddharmapundarika Sutra to have resolved the question conclusively.

A Note on the Interpretation of Atharvaveda—Ancient and Modern

Maina Noojibail, Mysore

Not only of Indian but also of world record of ancient human culture and civilization is the Rgveda, followed by Yajurveda, Samaveda and Atharvaveda-these are known as the four vedic samhitas. It has been very difficult and sometimes impossible to understand them without the help of commentaries etc. In this paper an attempt is made to throw some light on the interpretation of the Atharvaveda in particular-ancient and modern from the stand point of Indian Philosophical thought, taking into account, we approach of the different interpreters.

Some Special Features of Bhoja's Treatment of Stage-Craft

Manjalagiri Venkatesh, Mysore

Bhoja was one of the great writers on stage-craft. His work Srngaraprakasa deals with all aspects of stagecraft. We find in Sanskrit dramaturgy that all writers normally follow Natyasastra in one aspect or other. But Bhoja is an exception for this. For example—Natyasastra and other works divide the plot of the play mainly into two types; Adhikarika and Prasangika.

The Nominative Word and its Classification

Dr. Mahesh Jha, Munger

The writer of the Shabda Shakti Prakashika Jagdish Tarkalankara defines Nominative as a word possessed of potentiality in principal meaning taking first case ending (Su) is called nominative—Yena swiya yadarthasya mukhyatah pratipadne swottanoprathamapekshya tanna masyttadarthakam. Further he divides nominative (Name) into four or five kinds :—conventional (rudha), implicator (Lakshaka), etymological (Yaugika), etyonologo-conventional (Yoga rudha) and etyonological conventional (Yaugika rudha) Jagdish says like this "Rudhanchalakshakanchiva yogaruddancha yougikam, Tacchaturdha parai rudhayogikam manyateadhikam.

Svabhavokti of Kalidasa

Smt. Shila De, Murshidabad

The name Svabhavokti suggests a type of figure of speech which is applied to the natural description of an object, highlighting its most natural features and bringing out its special characteristics Definitions of Svabhavokti given by Bhamaha in his Kavyalamkara II. 93 , by Dandin in his Kavyadarsa (II. 9 , by Udbhata in his Kavyalamkara-sara-samgraha (III 8.9), by Bhoja in his Saraswati-Kanthabharana (III,4.5 & V.8), etc. are discussed in this paper.

Concept of Laksana-Vaiyakarana School

Biswanath Mukherjee, Burdwan

The present essay embodies the concept of Laksana as presented by the Vaiyakarana School. Indian poetics deal with this subject in different books elaborately. The different schools of poetics, however more or less think on the same line, but a little difference is noticed in the treatment of Appayadiksita and Panditaraja Jagannatha. The writers of Indian Poetics such as Mammata, Visvanatha etc. treat this subject elaborately and classifying Laksana they take a broad scope in exercising their intellectual faculty.

Indra in Kalidasa's Works

Religion and mythology play curious part in the histo y of civilization. The Indian Religion and Indian Mythology blended imperceptively made up the whole gamut of Indian religious concept, which reflected its mysteriously powerful face in the Puranas and Epics.

Kalidasa's works are full of Mythological references and as such offer an excellent study for the evolution of a divine image. The image of Indra, our present case of study, was most powerful in the Vedic period.

Bhamaha's Poetic Concepts

Dr. Rajendra Nanavati, Baroda

Bhamaha has given three poetic concepts: sahitatva, alamkara, and vakrokti; but because of his lack of perspicuity, he is generally not clearly understood. In this paper an attempt is made to amplify these three concepts The concept of sahitatva is explained with the help of Kalidasa's famous simile vagarthav iva samprktau etc. (Raghuvamsa, I.i). His concept of alamkara is clarified by focussing on his statement na kantam ani nirbhusam vibhati vanitananam, and by bringing in the western concept of 'image'.

Visvesvara's Contribution to Rasa Theory

Anantha Nagendra Bhat, Mysore

Visvesvara, one of the later Alankarikas, wrote Camatkaracandrika. In eight chapters called vilasas, Visvesvara explains almost the whole field of Sanskrit Poetics excepting Dramaturgy. This book was written during the last quarter of the 14th century A.D Visvesvara adorned the court of Singa, an Andhra king who ruled in Racakonda.

In the fifth vilasa (chapter) of the Camatkaracandrika, Visvesvara writes about Rasa.

Dakargala—Art of Discovering the Water Springs

E. R. Rama Bai

This art of discovering the underground watersprings dates as back as the 6th Cent B.C. since we find a reference to this in Vannupatha Jataka. Water fallen from heaven when absorbed by the earth, owing to the difference of soil, changes its colour and taste in different places. Subsoil water-veins are compared to the veins in human body. The veins have got different names. There are many ways of ascertaining such waterveins. This paper intends to give an account of different water-veins and the means ascertaining such sub-soil water-veins.

India and Indianness in Western Literature

Dr. A Venkata Rao, Tirupathi

The modest aim of this general paper is to make a Satellite-survey of references to our India and Indianness in Western Literature.

GREEK LITERATURE.

a) Strabo
b) Erathosthenes (240-196 B.C)
c) Patrocles
d) Arrian's Indika (150 B.C)
e) Pliny's Natural History (77 A D)
f) Ptolarry (150 A.D)—Marinus of Tyre, etc.

Concept of Samadhi in Hathapradipika

Ravindranath Bodhe, Lonavla

Generally, while understanding Hathayoga or its texts like Hathapradipika, there seems to be a tendency to interprete it after the manner of Patanjala-yoga To quote the classical example to this efect, Brahmananda, the commentator of Hathapradipika of Svatmarama, while commenting on Upadesha IV2, brings in the Samkhyan type of theory of involution (pratiprasava) in order to explain the dissolution of Manas—a condition thought to be necessary in order Samadhi to ensue.

The Origin and Development of Campukavya

Sri Padmanabha Panda, Pune

Among the three types of classification of Sravyakavya i.e. gadya, padya, and mis'ra, the campu, which comes under mis'ra-kavya is intended to be discussed here. The word campu may be a technical name for peculiar kind of composition in which there is an admixture of prose and verse.

Tantras—A Study

Dr. Chitralekha Mallik, Calcutta.

Philosophy that is relevant to life is always a living analysis of experience, an account of the experiential possession at every state of analysis, as much as at the natural level as at the level of transcendence, and tantra is exactly that—a sort of phenomenology enlivening Reality.

Definition of the term Tantra—the general feature of the term Tantra—Tattva (category and Mantra-Liberation—Means of liberation—Freedom (Mukti)—the difference of Saivagama or Tantra from Advaita-Vedanta—these problems are mentioned in the paper.

Etymology of the word Kendra

Dr. Sudhi Kant Bharadwaj, Rohtak

Most of the European scholars believe that the word kendra, used for the centre of a circle, has been borrowed by the Indians from the Greek word kentron. Such a notion is utterly fallacious.

This paper shows by tracing its etymology that the word kendra is purely of Indian origin The word kendra is a compound form of the words ka and Indra. Both these words are of indigenous origin and are found used right from the Rgveda onwards.

Sentiments of Sculpture (Vastu-Rasa)

Dr. Shailja Pandey, Allahabad

Sculpture, Art and Architecture are the creations of Architect's imagination. When he creates something being fully attentive, his creation becomes vivid and ptcturesque. It stimulates perceiver's feelings.

Sentiment (Rasa) is basically said as the part and parcel pf Epics but its existence may be seen in other fields also, such as dance, paintings etc. The sentiments of paintings are narrated as 'Chitra Rasa' in 'Vishnudharmottar Purana' and 'Samarangana Sutradhara'.

Samkhya's Prakrti as Material Energy

Prof. K. P. Sinha, Tripura

Prakrti established in Samkhya as the matrix of the material world is generally interpreted as 'matter'. In our view, however, prakrti spoken of in Samkhya, as in Saivism, Saktism and Vaisnavism, is not matter but material energy. In support of our position, we may put forward the following arguments :

First, the term 'matter' denotes the bhutas or gross material bodies. It may be applied to the tanmatras or fine material elements also. These material bodies and the fine material elements become manifest, according to Samkhya itseff, towards the final stage of evolution. Prakrti, the finest element lying at the top of the evolutionary process, cannot therefore be matter. .. ..

Attainment of Divinity Through Activities

Dr J. A. Bhatt

The most repeated pada of Rg Mandal VII shows that the sages wanted only blessings from deities and protection by them. The protection means the protection from death also. The Rshies asked for the worldly wealth for their patrons. This suggested by the Mratyunjaya Mantra being included in Rg. Mandal VII, as the last verse of a hymn. Being protected from death Vasishtthas were divine or immortal.

Nature, Beauty and Bharatidasan

Dr. Sarada Ramani, Madras

Nature has been the subject matter of poetry from the very beginning of poetic creation and the poets all over the world have sung of Nature in one or other form. But among all these poets only a few have been labelled as Poets of Nature because this nomenclature needs the fulfilment of certain principles of beauty which only a few can achieve. Among these few Bharatidasan finds a high place for himself as his "Alakin Cirippu" bears ample testimony to his principles of beauty.

Buddhist Places in Andhra Pradesh

M. Sampath Kumar, Kakinada

Buddha, one of the greatest apostles of peace. That name is enough to strike a chord of compassion on the heart strings of the human lute. Although Buddhism originated in India, and is professed in the world by hundred of millions Buddhism in Andhra State had been from 300 B. C. The ancient Brahmi inscription of Bhattiprolu stupa (Andhra Pradesh), some Buddha stories are revealing the antiquity of Buddhism in Andhra to Pre-Asokan period. The zeal of emperor Asoka was responsible for carrying the message of the Buddha into the heart of south-India in the 300 B. C. This we know from the numerous edicts, which he left engraved on rocks.

Wit and Humour in Sankara Bhasya

Dr. S. Jagadissn, Madurai

Wit and Humour are the forms of communication in which a complex stimulus illumin tes or elicits the reflex of laughter. The ability to see and to express recognition of what is amusing is the basic purpose of the two While wit involves acute perception, appropriate expression of ideas providing amusement and pleasure, an intellectual display of cleverness and quickness, and apt phrasing of words, humour rises from situations and incidents and does not rely much on sharpness or facility of expression.

Simhabhupala on Rasanispatti

Dr. Harshad Dholakia, Indore

Simhabhupala had access to a long tradition of drama and dramaturgy, enriched by great thinkers reaching its zenith in the brilliant and comprehensive works of Acarya Abhinava-Gupta. His successors had hardly any scope for original thinking and introduction of new concepts. Their efforts were confined to organisation and interpretation of available body of thought which by its varied and wide range defied comprehension by average students of drama.

Anandavardhana's Principles of Evaluation

Dr. C. Rajendran, Calicut

This paper aims at the investigation of the principles of evaluation of literature adopted by Anandavardhana in his Dhvanyaloka. Literary evaluation is always based on axiology, viz., the particular theory of value followed by the critics. There are two types of axiologies, the aestheticist and the affectivist. It can be seen that Anandavardhana generally follows an aestheticist theory of value and evaluates the literary work on the basis of its artistic value. But affectivist theory is also not totally unknown to him as is evident from his censure of Kalidasa for having portrayed the carnal love of Siva and Parvati in Kumarasambhava.

On the use of Adverbial Prepositions in Rgveda—X Mandala

Saraju Rath

There are two classes of prepositions which have been observed to be used in Veda, viz. (i) adverbial and (ii) adnominal. But about 14 or 15 (including sam) genuine adverbial prepositions are used with verbs independently to convey the local meaning of cases. Their use is however, confined to accusative, ablative and locative cases. The present paper throw light on such specific usage of adverbial prepositions in Rgveda X Mandala.

Indian Empiricism

Dr. Mrs) Shubhada Joshi, Bombay

This paper aims as presenting a reappraisal of Lokayata school from the available accounts. It is suggested in the paper that Lokayata materialism is the result of their empirical approach and standpoint.

Visvanatha Kaviraja : The Poet

Kanhei Charan Swain, Orissa

Visvanatha Kaviraja, well known as a rhetorician, was a gifted man in many ways His Sahitya Darpana is a synthesis of the earlier contributions to Sanskrit poetics. It has carved out a lofty niche in the world of oriental learning on account ot lucidity of its style and comprehensiveness of its subject matter. Apart from its literary value the Sahitya Darpana possesses immense historical importance. He has quoted more than sixty three verses to explain the rhetorical rules are pregnant with profound significance.

Kaviraja Bhagavan Brahma and Gundica Satakam

Geeta Chakravarty, Bhubaneswar

Kaviraja Bhagavan Brahma otherwise hnown as Bhagavan Kaviraja and also Kaviraja Bhagavan Ratha, a rival of Vakravak Ċakrapani Pattanaik flourished in the middle of the 18th Century in Dharakot of Ganjam District of Orissa.

A miraculous event could turn him a poet from a stupid one. The legend is that he aquired knowledge from a Brahmaraksasa in his childhood and became proficient in the field of Kavya.

Humanism in Contemporary Telugu Poetry

Prof. Pervaram Jagannadham, Warangal

The post-independence Indian Literature has been influenced by many factors. Freedom to the country is one among those many factors that influenced Indian Literature. Independence brought about positive changes in the social and economic structure of our country. After 1947, democratic form of governments have taken up many welfare schemes and people were at ease. The British exploitation ended.

Kriyavisranti in the Anubhavasutra

Dr. Mallikarjun Paraddi

Anubhavasutra of Mayideva (15th Century A. D.) is the most famous work among Post Basava Sanskrit Works on Virasaivism. It is divided into eight chapters the last being Kriyavisranti. A Sivayogin's nature is similar to that of a Karma yogin as detailed in the Gita.

Kriyavisranti is the result of samyak jnana and as such every act of his is Siva-worship and every enjoyment is Sivarpana. Sivabhakti is invariably required and as such it is considered by Mayideva as Pancama Purusartha.

Some Forgotten Ritualists in the Rgveda

Dr. Didhiti Biswas, Calcutta

Normally we recognise those as the Rgvedic ritualists to whom are traditionally attributed some ritual books on the dos and don'ts of the Hotr priest. They are Aitareya, Asvalayana, Sankhayana or Kausitaki. To these eminent Vedic personalities some ritual books are traditionally attributed. But a survey of these books reveals the names and opinions of some more ritualists who are occasionally quoted in these texts either in support or in opposition of their respective views.

Ayurveda in Ancient Indian Society

Dr. N. V. P. Unithiri

Ayurveda is the only discipline in ancient India which is secular and having all the potentials of science in the modern sense. Carakasamhita and Susrutasamhita, the two basic texts of Ayurveda, in the form now they are available, however, do not prove this statement cent per cent true. They were undergone many changes in course of occasional revisions.

Compensatory Lengthening in Pali

Prof. Madhusudan Mallik, Santiniketan

Compensatory lengthening is a process in which a vowel is lengthened in compensation for the loss of a sound. It is a product of history and an almost universal feature in languages development. It occurs in all Indo-European languages including Indo-European itself—I. E.* niz+ dos, I. Ir.* niz+das, OIA nidan Lat. nidus, Eng. nest.

In Pali compensatory lengthening occurs both in Phonology and Morphology—

Phonology

1. By eliminating the final consonant upanisa, 'cause, means (Dh. 75) of. Ved. upanisad........ ...

Embelishment in Kalidasa

R. P. Dwivedi

The works of Kalidasa throw a flood of light on the costume, coiffure and ornaments used in the age of his time in India The embelishment not only indicate different classes of people but also judge standard of living and economic condition of the different classes of the people using them. It enriches the Kalidasa's knowledge of the embelishment in this regard,

The paper propounded mainly into three ways adornation, viz. costume, coiffure and ornaments.

Khandaculika in Dramaturgy

S. Siddhartha, Varanasi

Sanskrit dramaturgy has studied drama in all its details and discussed its innumerable components.

Arthopaksepaka is one such component. It is used to convey that part of the dramatic theme. which can not be directly depicted on the stage. Generally five types of Arthopaksepakas are enumerated, viz. Pravesaka, Viskambhaka, Culika, Ankasya and Ankavatara.

True Religion—The Future of Man

Smt. G. Padmavathi, A.P.

1) Religion and True Religion—defined
2) Man and His Nature
3) Present Predicament—Inner and Outer
4) Purpose of Human Life
5) Science and its failure
6) Religion caters to the need
7) True Religion Synthesises
8) Man's living is preparing for future

True Religion is that body of practical knowledge which arises from the understanding of the 'Whole Truth'.

Yamala Kavitha in 'Kanyasulkam'

Dr. U.A. Narasimha Murthy, Vizianagaram

Kanyasulkam is a Great Drama in modern Telugu Literature. Gurujada Venkata Appa Rao, popularly known as Gurajada, is the author of that Drama. It was staged for the first time n 1892 and was published in 1897. The revised second edition was broughtout in 1909. 'Kanyasulkam' means 'The money to buy a Bride'. There was a bad custom of selling little girls to old men in the name of marriage in some Brahmin families of the Vizianagaram District and its surrounding places. Gurajada also belonged to this place and he made his work a means to reform the society. "Kanyasulkam" is his megnim opus

'Pancha Dabbu' in Telugu Literature

K.V. Raghavacharya, Tirupati

'Dabbu' is a peculiar literary term in Telugu literature to denote 'Kalpita, Katha Kavya' or Fiction. (Vide: C.P. Brown's Telugu-English Dictionary and Kittel's Kannada-English Dictionary). 'Pancha Dabbu' means five Kalpita Katha Kavyas or five fictions in Telugu literature.

Concept of Bhakti in Virasaivism

The concept of Bhakti, cherised in the hearts of Hindu seers, has taken a new shape in Virasaivism. Its teaching held, and holds more for the mystical personality than the ascetic life. The Soul's craving with faith and trust, the surrendered life and the desire to be one with the God—not for mundane happiness but for love of the Supreme—are the aim and intension of Siva-bhakti.

It is said that without the grace of Parasiva the Sivabhakti is impossible and through devotion to Him alone, the auspicious grace (Sivanugraha) is attained.

Hotrvurya

Dadashiv A. Dange, Bombay

The word hotrvurya occurs in the Rgveda (RV) only twice (I. 31.3; VI, 70 4); and, at both the places, it is hotrvurye (Loc. Sing.). At one place (I. 31.3) Sayana explains it as hotra vriyate iti hotrvurye yajnah, while at the second place, he simply renders it as yajnah. He thus, understands hotrvurya as "sacrifice", selected by the Hotr priest. The Vedic ritual tradition does not support this explanation.

Srikantha & Bhatta Bhaskara

Bhatta Bhaskara wrote a commentary on the Taittiriya Aranyaka He lived probably in the 10th century A. D. The commentary on the Brahmanandavalli portion of the Taittiriyopanisad contains some of the important philosophical points which include the concept of ultimate reality, viz., Brahman, the relationship between Brahman and the phenomenal world, the causality of Brahman & the Supreme Energy which is called Parasakti, the relationship between Brahman and the individual self., atc.

Hereditary and Karma Sidhanta

Dr. Indubhushan V. Bade

In the day to day medical practice we have to see many problems for which we have to find out some reason This type of thinking is going on for generations, why a particular type of person is born in a particular family, why there are particular diseases found in particular family, such questions are always thought of and then different theories and hypothesis were tried to be established to give an answer to these questions.

One of the theories is the theory of Hereditary and the other is Karma Sidhanta.

Incarnation : A Hindu Way of Thought

Rabiprasad Mishra, Cuttack

The ancient Hindu was surprised and frightened at the same time, without being able to explore the reason behind the mysteries of nature. He defied all the natural phenomenon and thought of some sort of consciousness or Life Force behind the my teries of nature or the creation of the universe. Gradually this ultimate imperceptible being acquired the name of 'God'. And God is given different forms to identify various aspects of nature. Such forms of God gradually pervaded the religious life of man and he started to worship him or believe in him in a definite form called avatara.

Dissent in Indian Tradition— Social Perspective

Ved Kumari Ghai, Jammu

This paper attempts to prove the existence of dissent in Indian tradition which is the initial stage for the process of change and progress in any society. There is no doubt that an individual being part of the society feels happy only when his activities have the sanction of the society to which he professes to belong and he feels very much embarrassed if his activities are unacceptable to the society.

Study of Music in Orissa

Dr. Bhagaban Panda, Bhubaneswar

Orissa as the abode of Lord Jagannath is an interesting place from the point of natural succession of Religious, Cultural and Hfstorical events of the past. The Orissan art viz, Orissi Music, Dance, Drama, Painting and Architecture has established its strange but graceful and distinct phenomenon among the prevailing art forms of India through the centuries. The synthetic culture of Orissan art has penetrated to the whole of India influencing to a great extent the neighbouring regions till the 16th century A.D.

Purusa-Medha—A Critical Study

T. N. Dharmadhikari

Purusa-medha is often misunderstood as a sacrifice in which human-beings are killed and offered as victim in fire. From the examination of the Vedic texts related to this sacrifice, it appears that the Purusa-medha is based on a very dignified and exalted noble conception. It is performed with a view to become one with PURUSA, the Supreme Being, the soul of the Universe. Since the sacrifice is the replica of the creation of Purusa, the human-beings are tied to the Yupa, but are released and not annihilated and offered as victim.

The Concept of Negation, as related to the Social Entity of the World

Dr. Asit Kumar Datta

Negation is no negative term or no entity. It is an affirmation of existence. When in the process of development of any sort the old stage in negated by the new, in the first place, that new stage could not have come about except as arising from and in opposition to the old. The conditions for the existence of the new arose and matured within the old. The negation is a positive advance brought about only by the development of that which is negated,

The Arthaprakrtis in Theory and Practice

Dr. Syamapadabhattacharya, Calcutta

According to Bharata and other canonists of Sanskrit dramaturgies, a full-fledged drama should have five elements for its development. Bija, Bindu, Pataka, Prakari and Karya—these five are technically called Arthaprakrtis. The term 'Arthaprakrti' has two component parts - one 'Artha' and the other 'Prakrti'. The former means 'Prayojana' (aim) or 'Phala' (result) and the later 'Hetu' (cause) or 'Upaya' (means).

Some Irregular Sanskrit Words found in Grammatical Texts

Apurba Chandra Barthakuria

Sanskrit grammarians have given a clear idea of correct or standard Sanskrit words with the help of adequate, appropriate rules. But Sanskrit was a dynamic language, the course of which was often directed by the discretion of the speakers. Therefore many irregular words cropped up in Sanskrit. In the present paper we have tried to show how the words halisa and langalisa were changed into halisa and langalisa in the days of Hemacandra.

Religion in Social Flux

Mrs. A Bakre, Bombay

Religion is a universal social phenomenon. It can be studied from various points of view, i. e. historical, sociological, authropological, cultural, psychological and philosophical. From historical point of view. Puranic religion as also the philosophical and cosmogonic contents of the puranas have their roots in the past, i. e. in the monistic and polytheistic traits of the Vedic religion. From sociological point of view, religion is in the process of incessant flux and a product of changing social environment.

The Characteristic Differences Between the Kausikasutra and the Grhyasutras

Sushanta Kumar Chakravorti

The Kausikasutra records a ritual tradition which is separate from that recorded in the Grhyasutras This fundamental difference between these two kinds of texts makes the themes and methods of their discussion almost bifurcated in two distinctive lines

While most of the Grhya authors deal mainly with the sacramental rites, such as Simantonnayana, Annaprasana, Vivaha, etc., Kausika indulges in glaring diversity of contents, besides taking these rites into account, giving thereby vent to his wider involvement in evolving numerous healing elements against the ills of life.

'Counseling' on the Problems of Modern Marriages

Sarbeswar Chatterjee

Modern marriages face a number of problems which may be attributed to our age and changing attitude. The problems are of such character and dimension that an attempt to solve them would atonce involve expertise. And 'Counseling' is nothing but an expert's advice or opinion In ihis conflict-oriented society of ours, attention is day by day being shifted from confrontational to reconciliatory methods. In India the functionaries on 'Counseling' and 'Reconciliation' in resolving marital disputes are not quite in vogue.

Necessity of learning Sanskrit

Sj. Sailajkanti Chakraborty

Sanskrit played a pivotal role in the arena of education & culture since the advent of culture & education in ancient times. History of Indian Culture—encompassing literature, fine arts, history, philosophy and what not—is synonimous with history of works in Sanskrit in different spheres. Any serious & avid reader of Indian history and culture cannot but go through the rich inventory of Sanskrit literature.

The Doctrine of Drsti-Srsti

Dr. Sujata Purkayastha, Guwahati

Advaita Vedanta is a philosophy of absolute non-dualistic monism. The philosophers of this school hold that the world is false, being a creation of maya. However, according to the majority of the Advaita Vedantins, the world which the jivas perceive is a creation of Isvara or Brahman qualified by maya and thus has an objective reality. But there are some Advaita Vedantins who maintain that the world is only a mental creation of the perceiving jiva. In their view there is no objective datum which forms the common ground for the illusory perception of all people.

Indo-Aryan Prefixes in Thai

Subhrangsu Indraruna, Thailand

A prefix is a bound element placed before and fused with a word to form one unit with the latter and change or alter the meaning. In inflectional or synthetic languages such as Indo-Aryan the prefix plays a very important role in the formation of the words.

In Thai, which is an isolating or analytic language predominantly used in Thailand, quite a large number of words from Indo-Aryan languages are borrowed.

Caitanya Movement in Bengal —A Review

Mrs. Santwana Banerjee, Burdwan

Medieval Bengal witnessed a great movement concerning Vaishnava religion, ushered by Sri Caitanya-Mahaprabhu. This religious reformation movement had its roots in the socio-economic, political and cultural conditions of the said time. Brahmana-dominated medieval society became the source of exploitation and oppression and even all miseries of the poor as well as low caste people of Bengal.

Cartography of Ancient India

Musham Damodhar, Secunderabad

In ancient period maps or the cartographic representation were vague and were used for religious purposes like construction of vedic alters and in gift making ceremonies.

Map making and drawing of the diagrams of skies and the earth was referred by many authors of the purana's, but they were more ritualistic and without geographer's vocabulary.

We come across the atlas and folded maps in Vrhatka-theslohasangrahe. The Encyclopaedia-Britannica state that the Dravidiens and Gujaratis were expert in preparing seamaps, coastline maps and other navigational charts and they were made before ptolemy.

'Yuyam Pata Svastibhih Sada Nah'

Dr. A. D. Shastri

An attempt has been made in this paper to understand and explain this line which occurs at the end of 75 hymns of the Rgveda Mandala VII. The sentence seems to show the philosophical attitude of Vasistha towards the deities vis-a-vis the human beings, with all their limitations.

An attempt is also made here to explain the repetition of the line in VII. 1 and its absence in 29 hymns of Rgveda Mandala VII.

Siva Linga Thathuvam

N. Chockalingam, Madras

Linga in Sanskrit means symbol. Siva Linga is the symbol of Lord Siva. A symbol takes one to the thing symbolised. Hindu symbolisms explain the Truth of Religion and Philosophy through idols, forms, signs and stories. Hindu symbols have spiritual significance relating to life.

Siva Linga is shaped in the form of an ellipsoid representing SIVA-SAKTI.

Some Observations on the Digambara Jaina Prakrit Literature and Sauraseni

Dr. Gokul Chandra Jain, Varanasi

In this paper I would like to take up for discussion two fundamental issues which have become of crucial importance for the studies and research in Prakrits in general and Digambara Jaina Prakrit Literature (DJPL) in particular :

1. The designation of the DJPL.
2. Historical and objective studies of DJPL.

In this connection the studies and researches of earlier scholars Western, as well as Indian help to a great extent for wh ch the present generation must be grateful to them.

Katantra Vyakarana and Pratisakhyas Vs. Panini's Vyakarana

Radhamadhab Dash, Bhubaneswar

As it is often concluded, the Katantra System of Grammar is a reminiscent of the non-extent Pre-Paninian Aindra School which is alluded to as Eastern School (Pracam) by Panini (he being a Westerner) without referring to its name. Pratisakhyas are the Pre-Paninian treatises mainly dealing with peculiarities relating to Phonetics, Grammar and Metrics of the speech habits of the various Vedic recensions.

Some Observations on the Yajnaprayascittavivarana

Nabanarayan Bandyopadhyay, Calcutta

Srauta Sutras play a vital role in understanding the Vedic religion in proper perspective. Baudhayana Srauta Sutra, (Bau Sr Sutra) a pravacana coming down in oral tradition is the oldest of them. Commentaries are generally key to discover the proper meaning of the sutras which are sometimes difficult to interpret. Unfortunately we are not in a position to understand the full text of the Bau Sr Sutra with the help of the commentaries published so far.

Changing Facets of 64 Kalas through the Ages

Dr. A.T. Sarangi, Sambalpur

India has a brilliant tradition of different lores (Kalas/Vidyas). By the time of the Kamasutra (Ist Century B. C. to 4th Century A.D.) they are seen to have blossomed into a veritable number of sixty four (Catussasti).

In this context it is worthwhile to note§that over the years the facets of these kalas have considerably changed though the number 64 remains constant.

Further Clarifications on the Concept of Inherence

Dr. B. K. Dalai, Pondicherry

D.N. Shastri in his work Critique of Indian Realism has maintained that the full significance of the intricate structure of the Nyaya-Vaisesika metaphysics was not realised by the later Nyaya-Vaisesika writers. Viswanath declares that samavaya is assumed as a separate category for the sake of bravity. And he gives the reference, ananta svarupanam sambandhatvakalpane gauravat laghavat eka samavaya siddhi'. But this statement is based upon his mis-interpretation of the notion.

Is 'Iswara' Dispensable in Patanjala-Yoga-Sutras (PYS)?

Dr. B.R. Sharma, Lonavla

The terms "Iswara" or "Iswarapranidhana" appears in five different places in the Patanjala-Yoga-Sutras:

1. Iswarapranidhanad va/I.23
2. Klesakarmavipakasayairaparamrstah purusavisesah Iswarah/1.24
3. Tapah svadhyayeswarapranidhanani kriyayogah//II.1
4. Saucasantosastapahsvadhyayeswarapranidhanani niyamah//II.32
5. Samadhisiddhiriswarapranidhanat//II.45

The Evolution of Sanskrit Dramas in Orissa

Trinath Hota, Bhubaneswar

The Orissan Dramas so far the Sanskrit is concerned are not lagging behind in the dramatic field of Indian Literature. The tendency of writing plays is marked to have taken place in Orissa since the 8th century A D. A number of Sanskrit plays are written till the 20th century. The aim of this paper is to present the contribution of Orissan Scholars in the field of Sanskrit drama. The plays under the study can be divided into four categories, viz.

1) Imaginary
2) Mythological
3) Historical
4) Allegorical

The Place of Prahelikas in Sanskrit Alankara Sastra

Dr. Meera Sarma, Madras

The main intention of poetry is to afford delight-Priti. Poetry need not be always written in a serious tone. It can also be playful, written out of sheer joy. In the west the theory 'art for art's sake' gave rise to poetry written purely for assonance, word-play or even nonsensical.

Origin of Town-Planning in India

Dr. Parmanand Gupta

The plans of towns and their denominations based on or identical with the geometrical figures of the Vedic altars have survived throughout our history of town-planning in ancient India. The common element of fortification in all the principal habitations of men is supported from such early words as gotra or gopura, etc.

Sense-Orientation of Pratyayas in Grammar

Dr. Gopabandhu Mishra, Ara

A derivative word has two constituent parts, 1. Prakrti and 2. Pratyaya. Prakrti, either a Dhatu or a Pratipadika, has its own form and sense. Similarly, a Pratyaya, either a Suffix or a Prefix, has its unchangeable form and particular sense or senses. We can very well see that in almost all the derivative words, the form of Prakrti takes the major constituent part, whereas the sense of Pratyaya does prevail predominantly, e.g. Dasarathi (Dasaratha + In 'in the sense of offspring) and Karah (Kr+ Ghan' in the sense of action.)

The Conception of God according to Virasaivism

Ms. Bharati Kalita

Virasaivism, one of the important schools of Saivism, otherwise known as Vira-Saiva-Siddhanta, Satasthala-Siddhanta establishes Siva, the Supreme Being, as the fundamental reality. As we know that Sripati (14th century A.D. is the systematic exponent of Virasaivism. He recognises both differences and non-differences between Brahman and the selves, and also Brahman and it's energy which expresses itself as the world. According to Virasaivism, Brahmana, the Supreme Being is one, without a second and is identical with Siva.

Vedic Agni in the Puranas—Some Aspects

Mrs. Gauri P. Mahulikar, Bombay

Agni, the second most important deity of the Vedic Aryans, has triple character, the Sun in the heaven, the lightning in the mid-region and the sacrificial fire on the earth. Some of his aspects such as his birth, his epithets etc. as seen in the Puranas, are discussed in this paper.

Instrumental Cause of Inferential Cognition

Kashinath Hota, Pune

Like perception and other sources of valid knowledge the inference has got certain factors by which the inferential cognition is produced. The factors which are mainly involved in inferential process are (1 the probans that exists in the subject, (2) the invariable concomittance between the probans and the probandum (vyapti) and (3) the third confirmatory cognition (trtiyalingaparamarsa jnana).

On Some Copyists of Sanskrit Manuscripts

Dr. Manabendu Banerjee, Calcutta

The post-colophon statements of Sanskrit Manuscripts, so far as I have noticed, speak of the circumstances under which the copyists had to copy respective manuscripts. Those statements furnish spasmodic information about the social, economic and cultural aspects relating to the copyists and their times. It is often seen that the manuscripts were highly esteemed by their owners and also by the copyists.

'Self Knowledge is the Ultimate Knowledge'

Dr. (Mrs.) Bhabani Ganguli, Calcutta

This an hermeneutic approach and analytic exposition of self-knowledge as we find in different schools of Indian Classical Philosophy. The intent of this paper is to show that self-knowledge is the ultimate knowledge that removes human suffering from its grass-root level

Modern trend to conquer the nature and exploit the natural resources to fulfil human need is not enough to make man free from his sufferings.

Maritime History of Coromandel

Prof. Bhaskar Chatterjee, Burdwan

The accounts of the Classical, Arab and Chinese writers throw welcome light on the maritime history of Cholamandalam (Coromandel Coast), referred to as Ma'bar in some accounts. The political and cultural relations of the Imperial Cholas with the Sailendras of Malay and Sumatra reflect the former's zeal for expansion of maritime trade in south-east Asia and even as far as Canton, the port of China, and the latter's anxiety for maintaining contact with the Coromandel coast.

Some Reflections on the 'Bhagavadgita'

Dr. Krishna Chakraborty Ganguli, Calcutta

'Bhagavadgita' is the only widely known scripture following which complete picture of the society of the world may be changed into peaceful world. This whole world is a battlefield like Kurukshetra. The root reason of all struggle is Egotism or desires of satisfying ownself.

Samkara's Concept of Reality and Appearance

Dr. Abhedanand Bhattacharya, Haridwar

The central problem of philosophy is to explain the relation between the One and the Many, but it is to be explained in terms of reason so that it can satisfy human intellect. Samkara also has to explain the world reasonably.

Samkara declares tnat he has derived the doctrine of of his system from the synthesis of the triple texts. These are : (1) Ekamevadvtiyam (Reality is one without a second), (2) Neha nanasti kincana (there is no plurality here), and (3) Yoto va imani bhutani jayante (from which all the beings etc. have sprung forth).

The Inner Spirit in Telugu Epic Novels

Dr. A. Bhoomaiah, Warangal

There are two prominent epic novels in Telugu. They are 'MALAPALLI' by Unnava Laxminarayana, and 'VEYIPADAGALU' by Viswanadha Satyanarayana. They deal with the physical and spiritual aspects of life. Though they apparently seem to deal with the social and political matters, they are basically spiritual in spirit. They centre around a basic theme, that is, the gradual growth of man from his mundane existence into spiritual plane.

The Development of Sanskrit ks in Magadhi

Jagat Ram Bhattacharyya, Ladnun

The treatment of Sanskrit ks in Magadhi is a problem. All the Prakrit grammarians, both eastern and western are not unanimous on this point. Even the Magadhi passages of the Sanskrit dramas are not always uniform in this respect. Editors of both Prakrit grammar and Sanskrit dramas are, therefore, carried out either by manuscript evidence or by their power of discretion to select one by rejecting the other. A careful perusal of all the available Prakrit grammatical texts has forced us to rethink of this problem.

Some Aspects of Aryabhata's Findings

Prof. N.N. Joshi, Bombay

Aryabhata is regarded formost among the scientists in ancient India. Particularly as a leader of the movement in the field of astronomy and pure mathematics towards the close of the fifth Century A. D. The paper is an attempt to highlight: 1. His uniqueness, 2. His unorthodox approach to the concepts of astronomy, and 3. His original contribution to the field of pure Mathematics in ancient India.

Badarinath Kashinatha Shastri—Life and Works

B.P. Pandya, Vadodara

Regional contributions to the growth of Sanskrit Literature is very important in the history of Sanskrit literature. Gujarat has contributed significantly in all branches of Sanskrit literature since early times, and B roda, the State Capital of Gaekwads also known as Chotikasi, has its own contribution in 20th century and in this context an attempt has been made to evaluate tne life and works of Badarinatha Kashinatha Shastri (1898-1976 A.D.) in this paper.

Baroda has produced many traditional Pundits in different Sastras of Sanskrit.

Computers in the Service of Sanskrit

Dr. R.R. Somayajulu, Rajahmundry

With the advent of modern technology in general and electronics in particular, there is a perceptible change in the outlook of all organisations and individuals around the globe. The achievements in the electronics in the form of Computers opened several new avenues for exploring the depths of old and new systems alike as they helped for storage of voluminous amount of data and also for retrieval of information instantaneously after necessary analysis.

Secular Background of Ancient Indian Polity

Dhirendranath Bandyopadhyay

1. Meaning of Secularism.
2. Is it theoretically feasible to examine any ancient idea in the light of modern thoughts ?
3. Religion versus Secularism.
4. Science of Polity in Ancient Indian cultural tradition.
5. Synthesis.

Concentration through Ancient Indian Method

Mind is restless and fickle. It is as difficult to control the mind as it is to control the wind. Attention arises when the self, the body, the senses and the mind are united and when all these four aspects of our person cooperate. Some stimuli are required to draw our attention but these stimuli are generally received by the sense organs in the body. However, when there is no attention, some undesirable stimuli attract our sense organs and mind to deviate our attention from the desired object.

Antaranga and Bahiranga in Sanskrit Grammar

Dr. Rabi Sankar Banerjee, Calcutta

The two terms antaranga and bahiranga are very much wellknown in Sanskrit Grammar. Grammarians like Patanjali, Jinendrabuddhi, Haradatta, Nagesa and most of the authors of Paribhasa works have explained these two terms with examples and counter-examples.

Some Less-known Alankaras in Sanskrit Poetics

Prof. (Mrs.) Vijaya S. Lele, Baroda

The tendency to decorate a thing is a human instinct, almost an inborn quality in everyone without exception. This interest has given rise to the Alankaras in Kavya. In fact, Kavya without any Alankara is almost a non-entity. They have invariable concomittance. It may not be any exaggeration to say that Kavya and Alankara go hand in hand. In course of time, these Alankaras paved the way for a new branch of study in Sanskrit Poetics. The number of Alankaras started swelling with new ideas coupled with ingenuity of rhetoricians.

परिशिष्ट

'संस्कृत भाषाखण्ड'

अनुवाद पुनरुक्तयोः प्रामाण्याप्रामाण्यम्
ललिता चक्रवर्ती, शाँतिनिकेतन

कथमुपनिषद्पदवाच्या श्रीमद्भगवद्गीता ?
संगीता सेन, मुर्शिदाबाद

संस्कृतकाव्यशास्त्रेषु राजशेखरस्य शास्त्रदृष्टिः
डा० मतिकान्त पाठक, भागलपुर

अक्षराणामानुपूर्वी
पं० ना० बा० मराठे

रस-सिद्धान्तः
प्रो० चन्देश्वर झा, दरभङ्गा

उत्साहवतीरूपकस्य समीक्ष्यात्मकमध्ययनम्
कुमारी हरप्रिया महापात्र, पुरी

संस्कृतवाङ्मये म० म० मोहनमिश्रस्य योगदानम्
डा० लक्ष्मीनाथ झा, दरभङ्गा

शब्दसाधुत्वे मतभेदहेतुः
डा० सुधीरकुमार झा, राजनगर

दरमीलन्नयना निरीक्षते
प्रो० के०पी० महेता, अहमदाबाद

अनेकपुरुषव्यवस्था सांख्यशास्त्रे भाक्ता न वा ?
डा० निखिलेश चक्रवर्ती

साम-विकाराः
डा. चन्द्रभानु त्रिपाठी, इलाहाबाद

वेदे जामित्वम्
डा० निगम शर्मा, गुरुकुल काँगड़ी

श्रीरामानुजदर्शने तत्त्वमसीतिवेदान्तवाक्यार्थविचारः
डा० रामप्रिय शर्मा, भागलपुर

भाणश्चतुर्भाणी च
आचार्य डा० वनेश्वर पाठक, राँची

मीमांसायतेन विग्रहादिपञ्चकसत्ताविचारः
डा चिर्रावूरि श्रीराम शर्मा, राजामुन्दरी

मिथिलायां वैदिकसंस्कृतेः परम्परा
तेजनाथ झा, मधुवनी

'हिन्दीभाषा खण्ड'

'व्रात्य' शब्द—वेदों से स्मृति तक
प्रो. डा. जे. के. भट्ट, अहमदाबाद

संस्कृत साहित्य के तेजस्वी गौणपात्र
जोशी ज्योत्स्ना, नडीआद

गंगदत्तकहाणयं : एक प्राकृत पाण्डुलिपि
डा० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर

'विक्रमोर्वशीय' में नाट्यवृत्तियों का प्रयोग
हरीलाल वर्मा, फैजाबाद

नीतिवाक्यामृत
प्रो. डा. आर. पी. महेता, जूनागढ़

ऋग्वेद में आथर्वणिक तत्त्व
डा. अयोध्याचन्द्र दास, कुरुक्षेत्र

ऋग्वेद के प्रथम अध्याय में अग्नि
अंजना कुमारी, कुरुक्षेत्र

पद-विन्यास के तत्त्वों में चयन तथा क्रम का वैशिष्ट्य
डा रमणेन्द्र नाथ, आरा

चित्रकला के प्रेरक सूर्य एवं चन्द्र
श्रीमती भगवती गुप्ता, देहरादून

प्राकृत एवं अपभ्रंश में सुलोचनाचरितम्
श्रीमती कल्पना जैन, उदयपुर

संस्कृत वाङ्मय में मिथिला
डा वैद्यनाथ झा, मुजफ्फरपुर

रामकथाओं में मूलभूत एकता
डा. रमानाथ झा, मधवापुर

आचार्य वामन और रीति सम्प्रदाय
रंजु बाला, चण्डीगढ़

संस्कृत दूतकाव्य परम्परा में छोटानागपुर का योगदान
हरनारायण, राँची

नियमसार के कतिपय विचारणीय प्रसंग
डा. ऋषभचन्द्र जैन, वाराणसी

पाणिनि व्याकरण में बाध्यबाधकभाव
डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा, जयपुर

विष्णुस्मृति और वर्तमान समाज
श्रीमती कमला वाजपेयी, इटावा

शल्य चिकित्सा एवं सुश्रुत
डा० ओ० पी० शुक्ला, इन्दौर

परमारकालीन शिलालेखों में वर्णित कुछ अप्रसिद्ध कवि
मोहनलाल खण्डेलवाल, इन्दौर

नृपमत, लोकमत, साधुमत के सन्दर्भ में भरतविषयक—एक परिशीलन
श्रीमती दुर्गा खण्डेलवाल, इन्दौर

वैदिक ऋषि परम्परा
बंशीधर शास्त्री, मुसलगाँवकर

साहित्यवाचस्पति डा० हरिहर त्रिवेदी एवं 'गणाभ्युदयम्' नाटकं
डा० लक्ष्मणनारायण शुक्ल, इन्दौर

हिन्दू व्यवहारविधि तथा रोमनविधि का तुलनात्मक-अध्ययन
कु० नलिनी मुसलगाँवकर, इन्दौर

भारत के प्राचीन शिक्षणकेन्द्र
श्रीमती वन्दना पाण्डेय, इन्दौर

महर्षिदुर्वासा प्रवर्तित शैवागम
शिवकुमार शास्त्री पांडेय, इन्दौर

संस्कृत साहित्य के उपेक्षित कवि श्री लक्ष्मीनारायण
कौशलकिशोर पाण्डेय, इन्दौर

श्री लालकवि कृत महिम्नः स्तोत्र—एक समीक्षा
प्रो० विनायक पाण्डेय, इन्दौर

कर्मकाण्ड और राष्ट्रीयता
प्रद्युम्न पाण्डेय, इन्दौर

समीक्षाचक्रवर्ती पं० मधुसूदन ओझा एवं सृष्टि प्रक्रिया विवेचन
कु० ज्योति उपाध्याय, इन्दौर

संस्कृत साहित्य में काँच उद्योग
ललित कुमार माहेश्वरी, इन्दौर

प्रमुख संस्कृत रूपकों में सूच्यांश
संजयकुमार मिश्रा, इन्दौर

प्राचीन भारत में गणतन्त्र की स्थापना
डा० प्रभाकिरण, मुजफ्फरपुर

संस्कृत नाटकों में नृत्य
सुषमा गुप्ता, जम्मू

भगवान बुद्ध का विशिष्टज्ञान—चार वैशारद्य:—एक अध्ययन
डा० धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र

तंत्रालोक के अनुसार बाह्य कालविभाग
डा० (श्रीमती) कमला द्विवेदी, जयपुर

गृध्रसी में पत्रपोटला
डा० सोहगौरा रामविलास, रीवा

काव्यलक्षण : एक समीक्षा
डा० विक्रमकुमार, चण्डीगढ़

देवनागरी लिपि का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य
डा० भगवानदेव पाण्डेय, हरिद्वार

अथर्ववेदीय प्राण-विद्या
अभयदेव शर्मा, अजमेर

मोक्ष या सृजनक्षमता
डा० वीरबाला भावसार, जयपुर

उपन्यासकार डा० श्रीनाथ हसूरकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
वीणा अग्रवाल, रोहतक

गीता एवं धम्मपद का साम्य
डा० धनीराम अवस्थी, मलांजखंड

प्राकृत काव्यों में समाविष्ट सौन्दर्यात्मक दृष्टि से रीति एवं गुण
डा० धनीराम अवस्थी, मलांजखंड

आयुर्वेद में क्षारसूत्र चिकित्सा
डा० पी० पी० तिवारी, ग्वालियर

श्रीकृष्ण की शासनव्यवस्था
डा० किरण टण्डन, नैनीताल

कच्छवंश महाकाव्य की विशेषतायें
डा० प्रभाकर शास्त्री, जयपुर

अथर्ववेद में सौर-चिकित्सा
प्रज्ञा ठाकर, अहमदाबाद

'उपन्यास के जनक आचार्य दण्डी' शीर्षक आलेख का सारांश
दयानाथ ठाकुर, बनगाँव

सुन्दरेश्वरकृत सुन्दर रामायण महाकाव्य—एक परिचयात्मक विवरण
श्रीमती निर्मला तिवारी, बलरामपुर

दक्षिण भारतीय मंदिर
श्रीमती चित्रा पोद्दार, भागलपुर

साहित्य में धार्मिक समन्वय
डा० कृष्णावतार वाजपेयी, इटावा

पारस्कर गृह्य-सूत्र के अनुसार सपिण्डीकरण
डा० वीरेन्द्रकुमार मिश्र, शिमला

कर्पूर-मञ्जरी में रसविधान
डा० वीरेन्द्रकुमार मिश्र, शिमला

उपनिषदों में जगत् की सत्ता
डा० मनुदेव बन्धु, हरिद्वार

ब्रह्मयज्ञ मीमाँसा
रामगोपाल शर्मा, जयपुर

श्री मित्रमिश्र के 'पूजा-प्रकाश' का विवेचनात्मक अध्ययन
कु० प्रतिमा खोस्या, जयपुर

विद्याधरनीतिरत्नस्य आलोकः
डा० शिवसागर त्रिपाठी, जयपुर

साहित्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में सत्यानुभूति
मधु गुप्ता, जयपुर

संस्कृत काव्य-मार्ग
आरती अग्रवाल, इलाहाबाद

मीमांसा दर्शन में 'शब्द' पदार्थ
डा० (श्रीमती) प्रेमा अवस्थी, कानपुर

वैशेषिक दर्शन में संख्या का स्वरूप
डा० दयाशङ्कर शास्त्री, कानपुर

माघकाव्य में सूर्यप्रतिमा
डा० सौ० शैलजा भेद, नागपुर

वाक्यलक्षण समीक्षा
डा० सुरेश्वर झा, दरभंगा

भाष्य पर मनुस्मृति का प्रभाव
श्रीमती वीना विश्नोई, हरिद्वार

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्यों में अदिति
डा० कृष्णलाल, दिल्ली

आयुर्वेद बृहद्त्रयी में योग, एक विवेचक
डा० त्रिलोकीनाथ पाण्डेय, इन्दौर

आचार—एक विश्लेषण का संक्षिप्त सार
कुमार नागेन्द्र, आरा

कालिदास की जन्मभूमि
डा० शोभारानी मजुमदार, लखनऊ

उत्तरवैदिककालीन राजनीतिक विचार एवं संस्थाओं के अध्ययन की समस्या
श्रीमती संगीता कुमारी, मुजफ्फरपुर

अष्टाध्यायी के वैदिकसूत्रों के व्याख्याकारों की कतिपय भ्रान्तियाँ
डा० पतञ्जलि कुमार भाटिया, दिल्ली

बौद्धदर्शन की अनात्मवादी विचारधारा और उसका व्यवहारिक पक्ष
डा० गदाधर त्रिपाठी, झाँसी

अथर्ववेद में वर्णित औषधियाँ—एक पर्यविलोचान
उषा किरण, होशियारपुर

भारत के जातीय आन्दोलन के विशेष पथप्रदर्शक—प्रेमचन्द
शिप्रा गुप्ता, जलपाईगुड़ि

आनन्दात्मक ब्रह्म की भावात्मक सत्ता—एक विवेचन (ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में)
कु० अर्चना चतुर्वेदी, इलाहाबाद

सूतिनकि: स्वौव्युरु नह्यभित्रीनिहीति सः
सुनीतिकुमार झा, भागलपुर

आर्ष महाकाव्यों में वर्णित वरदान एवं शाप का प्रभाव
डा० (श्रीमती) एस० कुजूर, रांची

महाकवियों के नाटकों के नामकरण का रहस्य
डा० अमरनाथ ठाकुर, सीवान

आयुर्वेद वृहद्त्रयी में योग—एक विवेचन

डा० त्रिलोकीनाथ पाण्डेय, इन्दौर

संस्कृत के पूर्वमध्यकालीन जैन कवि जटासिंह नन्दि - परिचय एवं कालनिर्णय

डा० कमलकुमारी, आरा

पुनः प्रसङ्ग-विज्ञानात् सिद्धम् तथा सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधित-मेव, परिभाषाओं को अन्यथा सिद्धि

डा० (श्रीमती) पुष्पा दीक्षित, बिलासपुर

कोशावलोवल्लभ घनश्याम का साहित्यविवेचन में योगदान

कु० अरुणा मनुभाई भट्ट, अहमदाबाद

श्राद्ध प्रक्रिया एवं देवण्णभट्ट रचित स्मृति-चन्द्रिका का श्राद्ध काण्ड—एक अध्ययन

श्रीमती सुमित्रा शर्मा, सरदारशहर

मुख्य पुराणों में शाप के विषय में दिये गये नियम, खयाल और हकीकतें

डा० एच० एम० जानी, अहमदाबाद

'आंग्लभाषा खण्ड'

The Cosmic Dance of Siva
Pandit V. Natesan, Madras

Jain Temples of Ahmedabad and Acharya Jina Chandra Suri
Prof R. N. Metha, Ahmedabad & Dr. K. V. Sheth, Ahmedabad

Shakti Narratives in Folk Literature—An Analysis
Dr. M. Andamma, Hyderabad

An Iconographical Note on Kubera Vis-a-Vis Soma
C. Satapathy, Talcher

Contribution of Jainism to Indian Culture
Surya Narayan Sahu, Puri

Visvanatha Kaviraja : The Poet
Kanhei Charan Swain, Balasore

Divine Origin of Scriptural Wisdom—Kasmira Saiva View
Dr. Debabrata Sen Sharma, Calcutta

The Concept of Moksa as Depicted in the Anubhutiprakasa of Vidyaranya--An Analysis
Dr. Godhavarisha Mishra, Madras

The Catuh-sloki-bhasya of Vedantadesika—An Analysis
Dr. V K. S. N. Raghavan, Madras

Modifications of the Nala Story of the Maha Bharata in the Sahr Dayananda Mahakavyam
Naba Kishore Mishra, Cuttack

Gemmology in Ancient India
Dr. (Mrs.) Radha Krishnamurthy, Bangalore

Bhartrhari on Cause and Effect
Dr. Avanindra Kumar, Deln i

Kashmir Saivism (KS) and the Vedanta of Sankara
Prof. R. C. Dwivedi, Jaipur

Fishery in Ancient India
Prof. Ketaki Nayak, Puri

Contribution of Assam Towards Sanskrit Poetical Literature
Dr. Narendra Nath Sarma

Application of Nyaya-System in Various Fields of Sanskrit
Meena Pandey, Lucknow

Pratapamartanda in the Place of Dharmasastra Literature
Dr. Sujata Bohidar, Cuttack

Is The Ramayana A Heroic Epic ?
Dr Vijaya K. Guttal

Outstanding Linguistic Features of the Sattakas
Dr. Chandramouli S. Naikar, Dharwad

Paryapti Relation In Navya Nyaya—An Observation
Dr. L. V Joshi, Ahmedabad

A Typical Trend of Writing Sanskrit Works in Thanjavur during the Reign of Maratha Kings
Dr. Anireddy Shashirekha Pullaredy, Hyderabad

Colours and Paintings in Sanskrit Literature
Dr. K. V. R. Gopalacharyulu, Secunderabad

Is Samkara's Mayavada Supported in the Upanisads ?
Ajit Kumar Chakrabarty, Midnapur

Trade and Commerce in Ancient India as Reflected in the Early Inscriptions (200 B C. to 550 A. D.,
Mrs. Munmun Mukherjee, Calcutta

Lalitagiri—An Important Site of Orissa
Sanju Patnaik, Bhubaneswar

Ecology in Ancient India
Dr. V. K. Hampiholi, Kumta

The Concept of Dravya in the Paninian Grammar
K. Suryanarayana, Pune

The Concept of Yogarudhi in Nyaya System
Subas Chandra Dash, Pune

The Epistomology of Vedanta Paribasha
Dr. R. N. Aralikatti, Tirupati

A Study of the Man-Lion Myth in the Sivaite Purana-Texts
S. Jena, Bhubaneswar

The Determination of the Period of Maha Bharata War by Method of Mathematical Astronomy
Dr. Vishnu Kant Verma, Bilaspur

Trade and Commerce in Ancient India as Reflected in the Early Inscriptions (?00 B. C. to 550 A. D.)
Mrs. Munmun Mukherjee, Calcutta

Ganesalahari of Gopinatha—A Rare and Little-known Stotra-Work
Dr. Mukund Lalji Wadekar, Baroda

Pluta in Sangam Tamil Texts
Prof. A. Kamatchinathan, Annamalai

The Crisis and Response—A Historical Analysis of the Siksa Samuccaya of Santideva
Dr. Kalpana Upreti, Delhi

Gajapati Inscription in Nellore Inscriptions by Butter Worth and Chetty (1905)
Dr. K B. Tripathi, Cuttack

Gangesa's Definition of Nyaya or Syllogism
Subuddhi Charan Goswami, Calcutta

A Kannadiga and his Difficulties in Acquisition of the National Language Hindi
Dr. (Smt.) S. S. Herlekar, Dharwad.

Scientific Aspects as Revealed in Asyavamasya Sukta
Soubhagini Devi, Bhubaneswar

The Treatment of Numerals in Yaska's Nirukta
Dr. (Mrs.) Nalini Devee Misra, Gauhati

Sastric Sanction in Support of Sanskrit Gitakavya
Raghunath Panda, Bhubaneswar

Contribution of Manikya Dynasty of Tripura to Sanskrit Literature
Dulal Kanti Bhowmik, Bangladesh

Variants from Venisamhara and the Kavyaprakas'a of Mammata
Dr. Jagriti Pandya, Ahmedabad

Comparison of the Treatment of Sanskrit Sama vrttas by Hemacandra and Pingla
Dr. G.S. Shah, Valsad

The Perceptibility of Air
Dr. Brandaban Patra, Visakhapatnam

The Goddess of Eloquence
Jayasree Banerjee, Jadavpur

Ancient Indian Awareness in Forest-Preservation
Dr. Satyanarayan Chakraborty, Calcutta

Women Sanskrit Poets of Andhra Desa and the Life and Works of Ganga Devi
Smt Mudigonda Bala, Aligarh

Tree-Plantation and Indian Tradition
Dr Asha Goswami, Delhi

The Low-voiced (upamsu) Offerings in the Vedic Ritual Tradition
Dr. (Smt.) Sindhu S. Dange, Bombay

Horror Vacua : A Techninal Consideration in Indian Art
Tarun Chakravarty, Bolpur

H-Sound in the Pratyahara-Sutras of Panini
Dr. M. Srimannarayana Murti, Tirupati

Concept of Prasutitantra (Obstretics) and Kaumaravrtta (Paedistrics) in the Satapatha Brahmana
Dr. Sudhangshu Mohan Roy, Guwahati

Tiruchitrambalam or Chidambara Rahasya
Akula Rajendra Babu, Tamil Nadu

Banabhatta's Social Outlook : Deviation from Accepted Norms
Dr. Sukla Das, Calcutta

The Beginning of Krsna-bhakti in Assam Vaisnavism
Prof. B. N. Hazarika, Gauhati

The Concept of the Navagrahas in Orissa
Prof. M. Prusty, Bhubaneswar

Chitrakavya in World Literature
Prof. (Dr.) Kalanath Jha, Bhagalpur

The Candrakanta and Suryakanta in Myth and Reality
Pratap Bandyopadhyay, Burdwan

Sanskrit Plays on the Subhadrarjuna-Theme
Dr. (Mrs) N. S. Rugmini, Madras

A Critical Study of the Imagery in Shri Gunacandra's Mahaviracariyam (Vol. I)
Patil R. T., Pune

Kautilya and Slavery
P. R. Shalini, Mysore

Nagesa on the Meaning of Compounds (Cl s.)
Banamali Biswal, Allahabad

Symbolism in Rgveda, IV. 58
Dr. R. T. Vyas, Vadodara

Visnupada—A Comparative Review
Dr. Sudarshan Kumar Sharma, Bathinda

Culture of the Ramayana in Manipur
Dr. M. Kirti Singh, Manipur

Seasons in Sanskrit Literature
H. A. Shandilya, Ulhasnagar

Ramacandra and the Punishment on Surpanakha
Dr. P. C: Dash, Cuttack

Is There Any Cerebral l in Prakrit ?
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta

Ethical Value in the Theory of Relation
Dr. Bimlendra Kumar, Delhi

Concept of Brahmana in the Dhammapada
Dr. P. M. Upadhye, Bombay

Emendations Essential to the Vedic Grammar of Bhojadeva
Prof. (Dr.) N. M. Kansara, Ahmedabad

Yaksha-Prasna—A Genre of Literary Art
Dr. V. V. Bhandare, Bombay

Ayurvedic Concept of Dhatu Traced in the Brahmanas
Mridula Saha, Calcutta

Religion of the Chandra Rulers—A Socio-Cultural Perspective
Dr. Sambhunath Kundu, Birbhum

The Vivarta
Prof. Ram Murti Sharma, Chandigarh

The Idea of Realism in Literature
Hemendra Singh Chandalia, Udaipur

On Treatment of Secondary Suffixes in Some Post Paninian Systems of Sanskrit Grammar
Dhirendra Kumar Das, Calcutta

The Unique Appeal of the Abhignana Sakuntala and its Adaptability on the Stage
Miss Sakti Roy Chowdhury, Sahibganj

Erotics in Kalidasa's Kumarasambhava with Reference to Svabhavaja Nayikalamkara (Natural Graces)
Dr. Sushma R. Kulshreshtha, Delhi

Some Dropping Epithets of Rudra in Vedic Texts
Prativa Manjari Rath, Bhubaneswar

Madhura-Vijayam : A Mirror to Contemporary Socio-Cultural Conditions
Dr. Renu Pant, Lucknow

Bhaskara's Philosophy—A Transition From Sankara to Ramanuja
Miss Santirekha Sinha, Agartala

The Value of Instructional Materials in Teaching
Gurudeo Poddar, Bhagalpur

Some Symbols in Indian Culture —An Interpretation
Dr. Kala Acharya

INDEX

'SANSKRIT BHASHA KHAND'

'HINDI BHASHA KHAND'

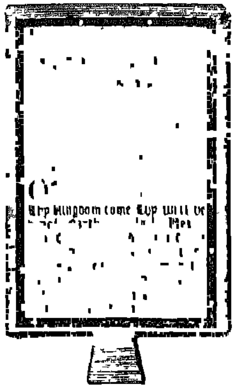
'ANGLA BHASHA KHAND'

often the things it sold were shoddy and not what the housewife wanted.

Sometimes the father would look at his children in their shabby clothes, and at their hungry eyes and thin faces. He might think, "Jimmie and Mary are only eight and six years old. They are very young to go to work. But it will be better to take them with me to the mill. They can earn 2s. or 3s. a week each. That will give us a little more food." So at five or six o'clock in the morning, Jimmie and Mary must be wakened; they must hurry out of bed and into their clothes. There is no time to wash properly, and no proper breakfast to eat. Out in the cold, wet morning they must run, while the great bell of the factory clangs out to call them to work. From six in the morning till half-past eight at night, they will toil in the hot damp mill, piecing the fine threads when they break, or crawling under the great machines to clean them When they get home at night, they will be too tired to wash or eat any supper. They get into bed to fall asleep. So they live, day after day, and week after week, without holidays, or a sight of flowers and birds and running streams and lambs.

Not all towns or all masters were as bad as these, even when Princess Victoria was a little girl. At New Lanark in Scotland, a young man named Robert Owen bought a cotton mill. Round it he built comfortable cottages for his workers. He opened shops, where they could buy good food and clothes, at a price they could afford. He would not have any child under nine to work in his mills. He

opened airy, pleasant schools. In them he put teachers who knew that little children need to dance and play and sing, even more than they need to learn to read and write. He told his teachers to give lessons out of doors as much as they could, and to teach the children interesting things about birds, and flowers and animals. He loved the people who worked in his mills almost as though he was their father.



This is a horn book—the only kind of lesson book many children used in school It consists of a page on which the alphabet and the Lord's Prayer are printed, mounted in a frame with a handle and covered with a piece of thin horn to keep it clean and tidy

Other people, too, began to care about how workers lived in the new towns. The rich men, who owned nearly all the land in Huddersfield in Yorkshire, and Ashton-under-Lyne and Glossop in Derbyshire, would not sell their fields to builders. They chose men they could trust to build strong, comfortable houses in wide streets, with proper drains and plenty of open space between one street and the next.

Parliament, too, began to see that living in towns which were not properly looked after, was making people ill and miserable. In 1835, they passed a law which said that people were to choose their own Town Councils, and that these councils must see after the drains and the pavements and the lights in the streets, and might do other things to make their towns pleasanter places to live in if they wished.

We shall read about some of these things in chapter twenty.

Little by little, too, work-people began to help themselves. They formed Clubs and Societies, and hired a hall, or had one built out of their subscriptions. Here they soon collected a library of books. They had discussions. They asked men to come to talk to them about foreign lands, or the stars, or the rocks. They had games, too, such as bagatelle or billiards, as well as cricket on the green.

If you live in a town, try to find out the oldest factory in it. Look at the streets near by, and notice if they are different from the newer factories and streets. Is there a park near? If so, when was it made and who made it? Think of the little children who worked in the old factories and lived in the old streets a hundred years ago.

CHAPTER EIGHTEEN

SCHOOLS AND SCHOOL CHILDREN A HUNDRED YEARS AGO

WHEN Richard Hakluyt was young and went to Westminster School, probably some of his school-fellows were quite poor boys. At other great schools, too, such as Eton and Harrow, St. Paul's School in London, and also in the grammar schools in many towns and villages, merchants' sons and carpenters' sons, squires' sons and farmers' sons sat side by side in the big class room. Two hundred years later, when Tom Coke went to Eton, only the sons of richer men went to these schools, for the boys had to spend a great deal of money upon their clothes and their food and their amusements. They learnt a good deal of Latin and perhaps some Greek, and when they were about fifteen, they probably left school and went to Oxford or Cambridge.

But though boys like John Clare could no longer go to Eton or Harrow, a great many of them did go to school. So also did their sisters. In the villages and the quickly growing towns of England and Wales, there were many Dame Schools. These were kept by old ladies, or by men who, because they were blind or lame, could not do any other work. The children had to pay 4d. a week for their schooling. There were no proper schoolrooms, but the boys and girls, perhaps thirty or forty of them, used to crowd into the kitchen of the cottage. There

would be much pushing and laughing and talking, and perhaps the Dame would have to whip some of the children with her birch rod.

At last, all would be settled upon their stools or forms, with their slates and pencils. Then the Dame would hear them say the alphabet and spell a few words all together. By and by, perhaps she would have to stop to stir the pot in which her dinner was simmering over the fire, or to turn the handle of her mangle. When she came back, and the children were once more quiet, she heard the older scholars read a few verses from the Bible, and taught the little girls to sew long seams or to embroider their names and texts from the Bible on fine canvas.

In the afternoon the kitchen would be very hot with so many children in it. Then, few lessons would be learnt. The little boys and girls would slip on to



A DAME SCHOOL

the floor, and the bigger ones lie along the benches, and soon most of the children, and perhaps the old dame herself, would be asleep. There were no terms and holidays. Children went to school when there was no work for them to do helping in the fields or with the spinning or weaving at home.

Some children went to schools where they were taught a trade. There were the lace-making schools, of which you read in chapter sixteen, the knitting schools and glove-making schools. Most of these were held in cottage kitchens and out-houses. For many hours a day the children worked at their lace pillows or their knitting frames, in the hot dark room, but sometimes, for an hour or two, the mistress of the school would teach the little girls to read their Bibles and to sew. Their mothers did not care very much about this. They thought it was more important that Hester and Caroline and Jane should learn to work quickly on the knitting-frame, and so earn more money to help to feed their little brothers and sisters.

John Clare was a fortunate boy. When he was seven years old, he left the Dame School in his own village and went, you remember, to a school at Glinton. This school was held in the vestry of the parish church. It was kept by a white-haired man called Mr. Seaton. He was old, but he knew a great deal. John sometimes, at first, played truant and rambled in the fields, or went fishing or butterfly hunting, instead of going to school. But his master soon made him interested in his books. Before he was twelve years old, he could say whole chapters

from the beautiful poetry of the Bible by heart. He learned to do difficult sums, too. When he was twelve his master died, and John had to work on the farms, but he still went to school at Glinton in the evenings after work, and he began to try to write poetry.

Another boy who went to one of these better schools was Robert Owen, of whom you read in chapter seventeen. He was so bright that, when he was seven, his master asked his father to let him help to teach the other children. After that, Robert did not learn much at school himself. Fortunately his father and his friends had plenty of books, and he learnt by reading at home. When he was ten years old, he was allowed to leave school and to go far away from home, to serve in a draper's shop in Stamford.

You remember how, when he was grown up, Robert Owen opened a school for little children near his mills at New Lanark. About the same time, other rich people in England began to think that there were not nearly enough schools, and that the children who went to them were not learning enough. They gave money, and began to open schools in towns and villages all over England. They did not think so much about making children strong and happy, as Robert Owen did. They wanted them to be tidy and well behaved, to learn to read and write and to do sums, and perhaps to know the names of the chief cities and rivers of Europe and such things. They thought it would be a good plan to have very large schools.

If you had been in Manchester about that time, you might have seen a thousand children, most of them tidy and clean, going to one of these schools. Let us imagine that we can talk to one of them. He will tell us that there is one big room in the school. If we say to him, "How many masters have you?" he will tell us, "Why, two, of course." "But how can two masters possibly teach a thousand or even a hundred children?" "They don't," he would reply. "They teach the monitors, and the monitors teach us." "Who are the monitors?" "Why, they are bright boys chosen out of every form to teach the others—and then there is the Monitor General, who starts the lessons for the whole school."

Perhaps we had better follow the children into school to see what is happening. When we first open the door we shall feel confused by the noise of shuffling feet. There are no cloak-room pegs. The boys are going straight to their seats. Soon we shall see that the great room has a platform at one end. On the platform is the master's desk. There are eight classes. Each class sits on a different form, or at different rows of small desks. Some of the boys are wearing little coats, cut short in front and with long tails behind. Others have long pinafores over their coats. All are wearing their hats. Several of the boys wear medals These are the monitors.

One boy of about thirteen is standing on a stool in front of the master's desk. He is the General Monitor of Order. When all the others are in their places, he shouts out, "Sling hats!" and all the boys

take off their high-crowned hats, which have a band of elastic passing under their chins. They put the elastic round their necks, so that the hat hangs down behind. In this way they wear them until it is time to go home. When the monitor cries out, "Lift desks!" every boy raises the sloping desk in front of him. At the word, "Sit!" they all sit down.

When they are all seated, and the monitors are standing at the ends of the forms to see that everyone is behaving, the master reads a chapter from the Bible. After this lessons begin. The first lesson for every form is writing, the second is reading, and the third is arithmetic. The boys do their writing and arithmetic on slates There is a monitor for each subject. He teaches the lesson he has just been taught by the master. Some of these little monitors are only seven years old. Most likely none of them is more than thirteen. They have not only to teach the other boys in their form, but also to see that they are clean and that they behave well. No boy is birched in this school. If the Monitor of Order sees that any boy has a dirty face, he is washed before the whole school. If anyone is idle or disorderly, the monitor may hang a disgrace mark around his neck. If he is still naughty he will be sent to the master's desk, and kept in for half-an-hour. Good boys, or boys who work very well, have a merit mark given them. If a boy who was to be kept in has a merit mark for another lesson, he can use it to buy off his staying in. At the end of a month, each boy's merit marks are counted. Each one is worth half a farthing, and for the money earned in this way, the

schoolmaster will give the boy a book, or a pair of stockings, or a shirt or perhaps a coat.

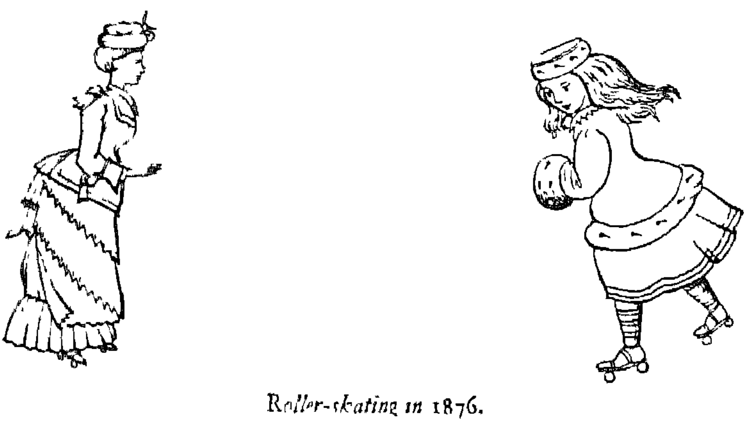
In the afternoon the children will come back to school and learn reading, writing and arithmetic again. The only book in the school is the Bible. All the other lessons are learnt from large cards hanging on the walls. Sometimes the classes all leave their seats and stand round in circles near the wall for reading or arithmetic. As they move across the room, and as they leave school at dinner time, or at the end of the afternoon, they have to say the multiplication tables. Most of the boys learn very slowly in this way. Many of them can only read and write easy words when they leave school and go to work. Some of the bright boys, who get into the eighth class, have lessons in geography and natural history from the master.

There was no law in England at that time to say that children must go to school, or how long they must stay there. Some mothers and fathers were too poor and too tired to care whether their children had any schooling. But some cared very much. They used to meet and discuss what kind of schools they would really like their children to have. Many of them wanted schools for the little ones, like the New Lanark school. They wanted all the children, little and big, to be taught by men and women who had learnt how to teach, instead of by the little monitors.

When Princess Victoria had become Queen, some of these parents had the courage to draw up a letter to her, asking for these things. For a long time

the men who governed England did not take very much notice of what the workers wanted. They granted some money to help schools, such as those you have just been reading about, but they did not say that there must be enough schools for all the children in every town and village. At last, in the year 1870, Parliament said that there must be enough for all children. Ten years later they said that all children must go to school, and, soon after, that no one need pay to go to school.

If you live in a town, see whether you can discover its oldest school building. It may have on it the date when it was built. Perhaps it is no longer used as a school. If it is not, try to think for yourself what may be the reason. Do you think it would be a pleasant building for a school?



Roller-skating in 1876.

CHAPTER NINETEEN

HEALTH AND HAPPINESS

MOST likely, all the children who read this book are taller and heavier than most children of the same age a hundred years ago. That is partly because we know a great deal more than our great-grandfathers and grandmothers did about what makes children grow tall and strong and healthy. It is partly because we care about health much more than they did. If you have read the last four chapters carefully, you will be able to think of quite a number of reasons why many boys and girls in England in those days were small and pale. They often had terrible illnesses, such as cholera or smallpox, which few people in this country have to-day. Many children died very young; others lived to grow up, but they had bent backs, or bowed legs, or one shoulder higher than the other, and were never really well. Why was this?

One reason was that a great many children, both in town and country villages, began to work long before they should have done. The kind of work they did was very bad for them. Think of the little girls straining their eyes in the dark and stuffy lace-schools. Think of the six-year-old "climbing boys" who swept the chimneys. Remember the tiny boys and girls who sat all day in the dark mine galleries, opening and shutting the trapdoors, and those older ones who dragged the heavy coal trucks through the damp passages. Remember, too, the

little boys and girls of five, six, or seven years old, who had to work in the cotton mills from six o'clock in the morning till half-past eight at night. The work which these children did, pushed their left shoulders up, and made their right legs bend inwards. The boys and girls of eight or nine years old who worked in the fields, were not quite so badly off. At least they had fresh air and sunshine. But even they had not enough time for play. Often they were too poor to have enough to eat. You remember that sometimes they had to walk eight or nine miles to their work, and back again in the evening. Is it any wonder that nearly all these children were white-faced and heavy-eyed, and small?

But the children who lived in large towns had even worse things to bear than heavy work. You remember that when mills and factories were built, many people came to live near them, and there were not enough houses. So it came about that a great many people lived in one house, and had not enough fresh air to breathe, or that new houses were built which were much too small, and which had thin walls which let in the damp. You remember, too, that there was no one to make people who owned houses put water pipes in them. No one bothered to make proper drains. There were no dustbins or dustmen. People threw their rubbish—cabbage stalks and bones, and stale bread and many other things—into the streets. These rubbish heaps bred numbers of flies. The flies settled on the food. Then the food went bad.

Because there were no water-taps in the houses, it was very difficult for people to wash themselves or their floors or their clothes properly. They had not enough water to drink to keep them well. Sometimes a queue of twenty or thirty people waited to get water from one pump. They had been working hard all day. It was perhaps hot, or cold, or raining. No wonder they quarrelled and pushed and shouted, and the weakest went home with their kettles or buckets unfilled.

There was another reason, too, why the town houses of those days were unhealthy. People—even doctors—were afraid of fresh air. Many houses had very few and very small windows. Even these were hardly ever opened. It is said that one doctor, who was wiser than the rest, used to break one or two window-panes when he was first called in to see a patient. When the patient was better, the doctor gave him the money to have his window mended. I expect he told him to keep it open in future, lest he should fall ill again.

But while some people had too little fresh air, others had too much. There was the boy who slept in the roller in Hyde Park, and many others who had no homes but railway arches or empty carts. Such children had not enough clothes. They hardly ever wore shoes and stockings. Some boys had no coats, others no shirts. Children who came from homes where there was plenty of money were no better off, in a different way, for they wore too many clothes. Little girls wore several petticoats. Boys, even in hot weather, wore thick cloth suits and

mufflers. No mother would let her children go out without hats.

One of the first people to help children to be healthier and happier was, you remember, Robert



Bradford in the early nineteenth century.

Owen. Other mill-owners and some clergymen in Manchester and Leeds tried to help, too. They told members of Parliament of the sad sights they saw in the factories. They wrote to the newspapers, and, as more people began to hear about these things, they determined to put them right. Lord Shaftesbury and other members of Parliament, helped to pass laws to prevent little children working in the mills. Parliament said, too, that the mills must be kept clean and the great machines must be fenced round to prevent accidents. After a long time, master sweeps were forbidden to send little boys up the chimneys. But it was not until 1918, that all boys and girls had to stay at school until they were fourteen, and were not allowed to go to work during school hours.

Sometimes when the people who lived in the poor and crowded streets of a city caught smallpox or cholera, these terrible illnesses spread to other parts of the town. This made people frightened. They began to ask what caused such diseases. Some men in London were made responsible for trying to make England a healthier place. They were called the Central Board of Health. They had to see that there were people in every large town, and even in smaller towns where a great many people died every year, to make and improve the drains and the water supply, to see that the streets were properly swept and the rubbish carried away. In some towns the people began to do these things gladly. In Liverpool and Leeds and Bolton, public baths were built. Here, people who had no water taps in their houses could come to wash their clothes, and have hot or cold baths for 1d. or 2d. each. In Derby and Preston and Birkenhead, public parks were opened. Here people could walk and play in their spare time.

But in some towns, some people tried to prevent these good things. They said they cost a great deal of money and they could not afford to help to pay for such things. This was both selfish and foolish. It was selfish because they were refusing to help their poorer neighbours. It was foolish because their work people could not work really well as long as they were not healthy, and also because the diseases which the poorer people had were often caught from them by the richer people. To-day we know that it matters to all of us to have healthy and pleasant towns and villages, with good water,

plenty of parks, and recreation grounds and swimming baths.

Slowly then, towns became pleasanter and healthier, but many children still came to school with white faces. Some always had colds. Some had toothache. Some seemed always too tired to do their lessons, or fell asleep in their desks, or even fainted. These things troubled the men and women who had to teach them, and the inspectors who came to see how they were getting on with their work. Again, people began to wonder why these things should be. They came to the conclusion that it was because when mothers and fathers were out of work, or only earned very little, they could not afford to take the children to the doctor or dentist, or even to give them enough to eat. So it came about that a few years after Queen Victoria died, doctors were appointed in every big town and every county, specially to see after school children.

These are the doctors who now come to schools every now and then, to examine every child, and to advise and help their mothers and fathers about how to keep them well, or what to do for them if they are short-sighted, or have decayed teeth, or unhealthy tonsils or such things. The children who could not work because they came hungry to school, were helped, too, by the provision of milk in the middle of the morning, and good school dinners for those who, for any reason, could not get them at home The doctors who came to examine the children, and the teachers in the schools, were pleased to see boys and girls growing stronger. But they found some

who might have been much stronger if they had been properly fed and clothed when they were babies.

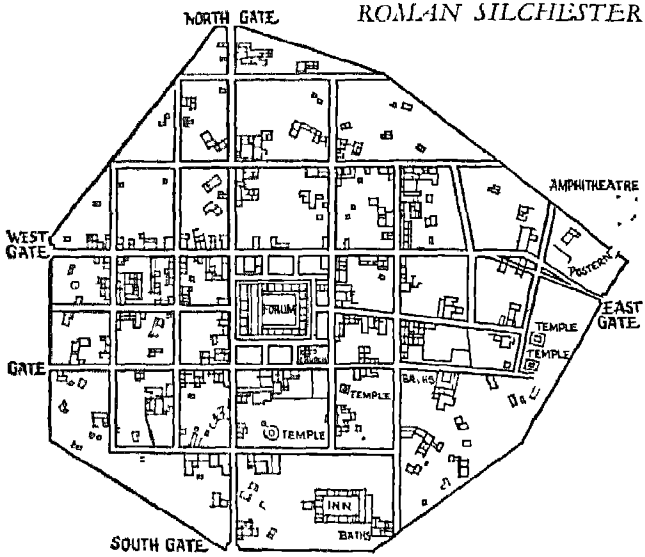
This made people think of a new plan. Rooms were hired, to which, once or twice a week, mothers might bring their babies. The mothers had tea, and people who understood such things talked to them about what it was best for babies to wear. They sold them good baby foods, and wool for knitting, and they had a weighing-machine and kept a record of whether the babies were gaining in weight each week as they should. The mothers were so pleased, and the babies improved so much in health, that soon doctors and nurses were asked to come regularly to these "Welfare Centres" as they were called. Now, nearly every town and a great many villages have their Welfare Centres or Babies' Clinics.

While all these things were happening in towns and villages and schools, doctors were discovering more and more about how our bodies and minds work and what they need. Some of their discoveries, about the need for fresh air and plenty of sleep, the best kinds of food to eat, and the importance of keeping food very fresh and clean, are taught to children in schools. In London we now have a Minister of Health, whose work it is to see that there are enough healthy houses for people to live in, that towns are kept clean and that food and milk are pure.

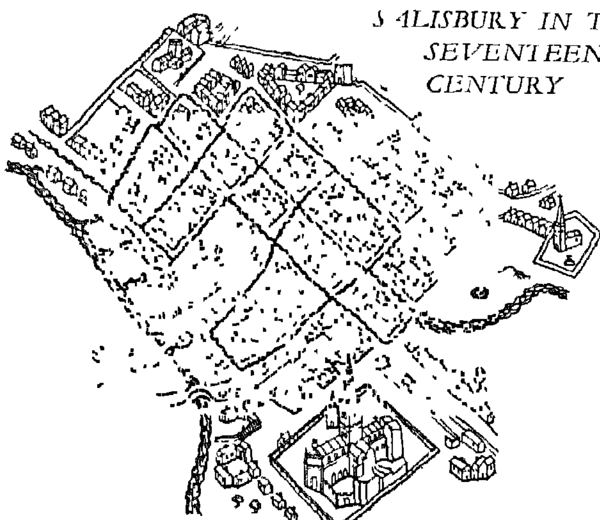


The corset, 1810.

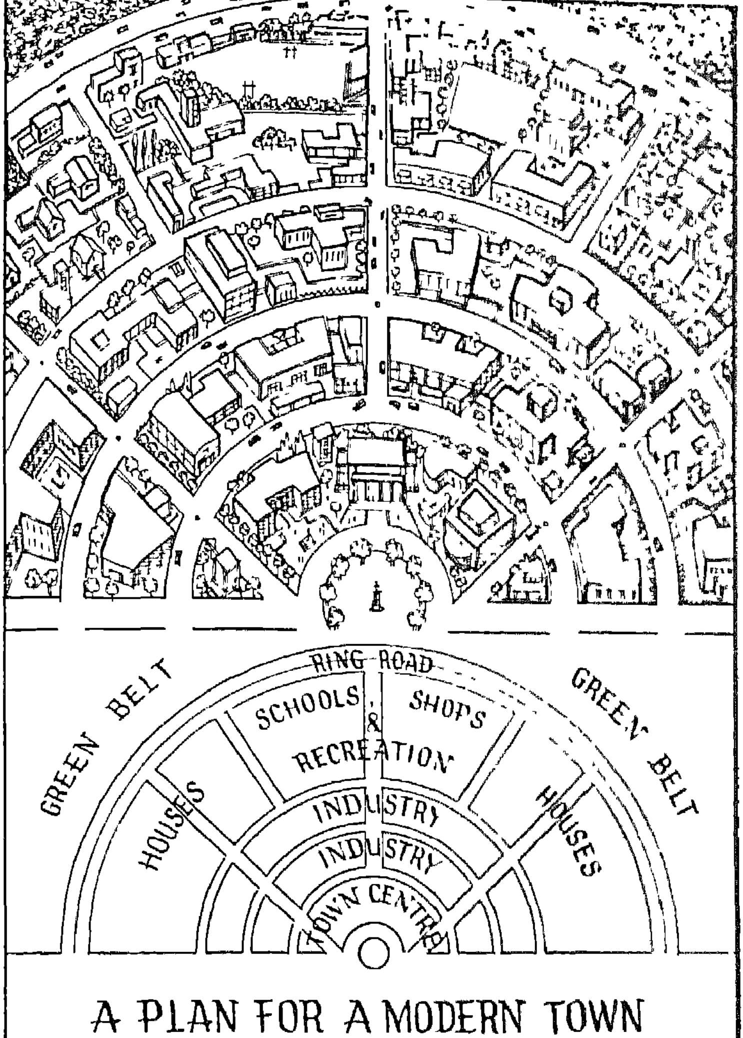
ROMAN SILCHESTER



SALISBURY IN THE SEVENTEENTH CENTURY



Notice that in both Silchester and Salisbury the roads are arranged in squares so that there is plenty of room for gardens and fresh air between one row of houses and the next



A small town or a neighbourhood Unit which would form one district within a larger town

CHAPTER TWENTY

SOME THINGS OUR COUNTY COUNCILS DO FOR US

SOMETIMES when I walk on the country roads near my home I meet a little old man I know. He is a kind and happy little man and always has a joke for the children on their way to school. Often, as I pass him, he is singing some old hymn tune in a loud clear voice. His work is to keep the roads tidy —to sweep up the leaves, and trim the verges, to gather up dead branches after a storm, and in the winter to clear the snow away when it begins to thaw. He has a little white cart which he pushes along. Into the cart he puts all the rubbish he collects. If I look at the cart I can see three black letters on it—N.C.C. They stand for Norfolk County Council.

All of us live in Counties—Somerset and Devon, Norfolk and Surrey, Staffordshire and Rutland are all counties. Those of us who live in cities in which there are more than seventy-five thousand people, may find that our city or borough is a county—and is called a County Borough. In each county there are county offices in the biggest town. Sometimes they are in a big building specially built for the purpose, sometimes in a number of buildings. Here a great deal of business is done, and the meetings of the men and women who have been chosen to look after the county are held. We call these men and women the County Council. So you see, the cart

which my little old friend wheels about our village roads belongs to the County Council of Norfolk, which meets from time to time in Norwich.

The men and women who come to the meetings of the County Council, in their cars or by bus or train, live in many different parts of the county. It takes many of them an hour or two to get to the meetings. The meetings themselves take a long time. Some of the people are busy, with houses and children and shops or businesses to look after, but because they love their county, and are eager to see it well cared for, they give their time without grudging. When they first become County Councillors they may say which of the things the county needs they are most interested in, for the Council is divided into different committees. If Mrs. Ash cares about children and schools, she can be a member of the Education Committee. Colonel Brown is a great gardener. He will choose the Parks Committee. Mr. Fuller may be a keen motorist and choose to be on the Highways Committee. Other people are on the Public Health Committee, or the Library Committee.

Let us think about some of the things the people on these committees do for you, although perhaps they have never seen you. Well, first of all, the Education Committee is most likely in charge of your school, though there are some schools in England which do not belong to the County Councils. But if your school does belong to them, they choose your teachers, they see that you have fine airy buildings, comfortable desks, bright pictures and good playgrounds, and a well-cooked dinner in an airy

dining-hall. They may have said that you can have a wireless set, a hall with a stage and curtains for plays and concerts, and good pianos for dancing and singing, an epidiascope to throw pictures on a screen for you, and a library of books in a special room or in your class-rooms. Every now and then the doctor and the nurse or the dentist will come to school. They will see that you are growing up well and strong, able to hear and see and breathe well, and with good sound teeth to bite and chew your food. They will advise your mother or father if you need glasses, or exercises to keep your back or legs straight, or if there is anything about which you should go to the hospital for treatment. They, too, are sent by the County Council, for they work partly for the Education Committee and partly for the Public Health Committee.

Suppose that you want to make a model of an aerodrome or a coal mine, or to get up a play with dresses belonging to the days of Queen Elizabeth or Queen Anne. Perhaps you will want to look at books to find out how to do some part. If you have not got the book you want at school or at home the County Council will help you again. If you live in a town you can go to the Public Library and ask for the book you want, and perhaps go to the Museum to look at a model of an old dress or bit of armour there. If you live in the country, and tell your teacher what you need, he or she will send the name of the book you want to the County Library and it will be sent to your school in the library box. Nearly all Public Libraries and Museums are kept

going by the Library and Museums Committee of the County Council.

Now let us come out of school and run home along the firm clean road. You remember that my old friend had N.C.C. on his little white cart, and we said that stood for Norfolk County Council. Well, nearly all roads are made and repaired, swept and cleaned, and lighted by the Highways Committees of the County Councils. Now perhaps our shortest way home is through the park, with the gay flowers and green lawns and flowering trees and shrubs, the tennis courts and bowling green for the older people, and the paddling pool, and sand heap, and giant's stride for the children. If we look at the notice board at the gate we shall find it is headed: COUNTY COUNCIL OF —— or COUNTY BOROUGH OF ——. So all these things, too, are cared for by another committee of our County Council.

We may pass a pretty bright group of houses. Arranged sensibly, too, in a crescent quite off the main road, so that children are safe from traffic. The houses have pleasant gardens, and plenty of large windows, a bath with hot and cold water, and roomy cupboards. It is quite likely that they were built by men working for the Housing Committee of the County Council. If you have a half-holiday perhaps you can go and swim at the public baths or in the swimming-pool. Those were made by the Baths and Washhouses Committee of the Council.

Do you remember that we said in chapter nineteen, that about thirty or forty years ago people started Welfare Centres, to which mothers might take their

babies to be weighed and looked after? Very likely you were taken to one every week when you were a baby. That, too, is now provided by a committee of the County Council. Perhaps when you were two or three years old, and still too young to go to the primary school, your mother took you every day to the nursery school. Can you, I wonder, remember the big airy rooms, the little basins fixed low down so that you could reach to wash your hands and clean your teeth? Do you remember how, before you could read, you knew your own tooth brush and towel and peg by the special pictures they all had stuck upon them? What lovely big solid toys there were to play with, too, and how soon you began to enjoy getting out your own special hammock-bed after dinner and sleeping for an hour, as all toddlers should. I don't suppose you knew in those days that it was the Education Committee of the County Council which saw that you had that pleasant nursery, and chose the nurses and superintendent who looked after you.

But my little old friend who sweeps the road, and all other road men and bath attendants, teachers, and doctors and nurses and librarians, must be paid for the work they do, or they cannot live. Plants and trees, books and desks, lawn tennis nets, rollers and mowing machines, school pictures and cupboards and wireless sets cost money, too. Where is it all to come from? The men and women on the Committees could not pay for all these things for us, could they? The answer is that your mothers and fathers and all other grown-up people, who

live or have shops and land in your county or county borough, each of them pay a little. When so many people each give a little, no one has to give a very great deal. We call the money that people pay to their County Councils, the rates How much each person pays depends upon the value of his house or shop or farm or field. This is reckoned in rather a difficult way, which you will understand when you are older.

Sometimes people grumble about paying rates, but that is rather foolish, is it not? For we cannot have pleasant and healthy towns and villages for nothing; and if we say "I have a garden of my own so I don't need a park", or "I don't care for reading or swimming", or whatever it may be, "so I don't see why I should pay for these things for other people", that is surely selfish and stupid; for if your neighbours are not well and happy, I don't see how you can really be happy yourself. You will surely feel happier if your neighbours have bright eyes and smiling faces than if they look thin and pinched and ill and poor, as so many people did when Lord Shaftesbury was alive.

Of course, your mother and father may think that the men and women on the County Council don't spend the rates well. Perhaps there are things which they would like their town or village or their children to have which the Council does not provide. Perhaps the schools are not bright and airy and well furnished, or there are not enough playing-fields and parks and libraries. Or they may think they are spending money foolishly, making very grand halls

for their own meetings, or running omnibuses for school children who would be very much better if they walked or cycled to school. But your mothers and fathers vote for the members of the County Council, just as you vote for the members of your cricket committee or dramatic club committee, and you know what you would do next term if the children you had voted for this term didn't do their work, or wasted the money you had paid in subscriptions!

We should remember, too, that all these things—school books, desks, and flowers and trees and roads—belong to all of us, because we are all citizens of our county, or shall be when we are grown up. That means, does it not, that we should all be proud of them, and take care of them? We should be careful to see that we neither lose nor spoil them, nor make them untidy and dirty ourselves, and that if we see anyone else mis-handling them in any way, we should explain to him that he is spoiling something which belongs both to him and to all his friends and neighbours.

CHAPTER TWENTY-ONE

NEAR NEIGHBOURS OF ENGLAND

LOOK at a map of the British Isles which is coloured so as to show the high lands and the low lands. You will see that all the northern part of Scotland and a large part of Wales is a much darker brown than any part of England. You know that this means that in these countries there are high hills and even mountains. To-day, firm roads lead over many of the hills, and there are neat farmhouses and flocks of sheep and cattle on the high moors and fells. But even to-day, when the clouds come down upon the mountains, it is easy for a traveller to lose himself, and if snowstorms come early in autumn or late in the spring, when the farmers are not expecting them, sheep may get buried in the drifts and have to stay beneath the snow until the shepherd can get to them to dig them out.

In the days when such people as Maximus and Branwen were alive, there were no roads across these mountains and moors, only the tracks worn by the feet of men carrying their wares to market over the hill-tops, or going to worship their gods in some great temple of standing stones. The country was wild and desolate, so it came about that the Roman soldiers never conquered it farther north than the Great Wall, of which you read in chapter three. Nor did they really conquer Wales, though they made some roads and camps there. Neither did they ever take ship and cross the stormy sea which separates

Wales from Ireland. The Angles and Saxons, too, failed to drive the Britons out of those mountainous lands, and though the Normans landed in Ireland, and burnt and plundered and built towns for themselves, they never conquered it. This is why there are men, women and children in the Highlands of Scotland, in Wales, and in some parts of Ireland who speak languages which are like the languages spoken in Britain before the Romans came. We call these languages Gaelic, Welsh and Erse.

But what Roman soldiers, or English and Danish pirates could not do, Christian saints and missionaries did. A young Briton named Patrick, who had once been a slave in Ireland, escaped and went to France. There he learnt to be a Christian, in the same great monastery in which St. Benet was later taught. He went back to Ireland, where he had once been kept as a slave, and wandered over the blue hills and green valleys telling the grey-eyed, dark-haired men and women tales of the love of Jesus Christ for men. He sang, as he went, a song which we still sing sometimes. It is called St. Patrick's Breastplate:

I bind unto myself to-day
  The virtues of the starlit heaven,
The glorious sun's life-giving ray,
  The whiteness of the moon at even,
The flashing of the lightning fire,
  The whistling wind's tempestuous shocks,
The stable earth, the deep salt sea,
  Around the old eternal rocks.

Christ be with me, Christ within me,
Christ beside me, Christ upon me,
Christ beneath me, Christ above me,
Christ in quiet, Christ in danger,
Christ in hearts of all that love me,
Christ in mouth of friend and stranger.

Thus he sang, as he braved the loneliness of moor and mountain and the unfriendly looks of wild and heathen men He found that the Irish lived in clans or families—grandfather, perhaps great-grandfather, fathers, mothers, aunts, uncles and cousins, forming one big clan, and all living near one another and owning a great stretch of land between them. Those of them who, when they heard Patrick's message, specially wanted to give their lives to worship God, would build themselves little groups of huts of turf or unhewn stone, with one bigger hut for a church. There they would live as monks, spending their time in praising God and in getting such learning as they could. From Ireland, two hundred years later, missionaries set out again to bring the story of Christianity back to Scotland and northern England. These Irish monks built monasteries on the Island of Iona, and on Holy Island, and wandered over the Pennine Hills, as you have read in chapter four.

When the English and Danish people in England were learning more and more, in the ninth and tenth centuries, to obey one king and to have one law for all the land, the British or Celtic people in Ireland and northern Scotland and in Wales still lived in

clans. The Welsh had princes and the Irish had kings, but the people really only cared about their own clan and its chieftain. If one member of a clan was hurt by a neighbour from another clan, all his cousins would march out to avenge his wrong. If a prince wanted to punish a band of robbers, he could only do it by going against them with his fighting men.

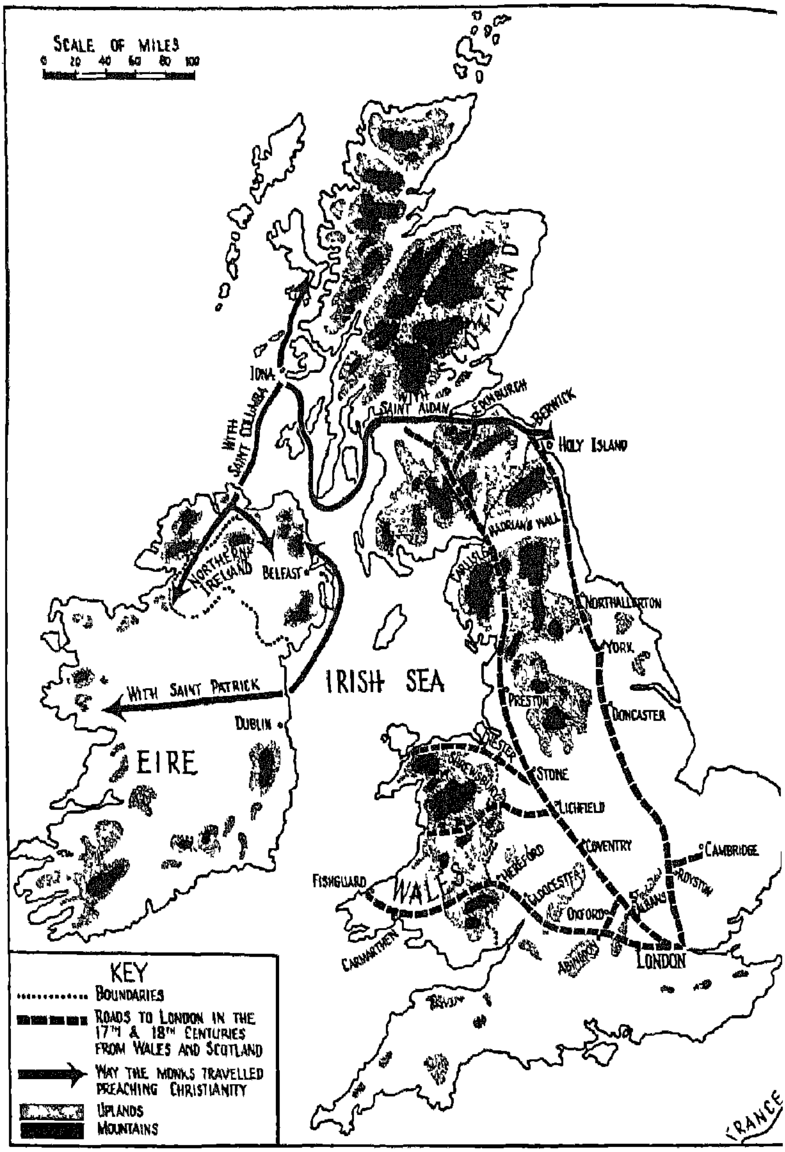
But though their lives seemed lawless, they loved poetry and music. Men of many different clans would meet each year, wandering many miles over hill and dale, to hear the bards sing the adventures of saints and heroes and great lovers. In the monasteries of Ireland, too, there was much learning, so that Irish scholars were sent for to teach in schools across the seas, in the land we call France.

Later, when English kings such as Henry II and Edward I were trying to make all Englishmen keep the peace, and were even setting constables and justices to keep order in towns and villages and sending their own judges from time to time round the country to try robbers and murderers, it seemed to them unwise to leave men to live such lawless lives just beyond the borders of their own kingdom. Henry II tried to conquer Ireland, and Edward I tried to conquer Wales and Scotland. They said they wanted to stop men stealing corn and cattle and fighting and killing each other. But Irishmen and Scots and Welshmen loved their own ways—their own tongue, their own songs and tales and customs. They would rather be robbed and hurt by men of their own race than have order kept for them by

strangers. They did not want to learn to speak the strange English tongue.

So it came about that in Wales Llewellyn ap Gruffydd, and in Scotland William Wallace and Robert Bruce, found stout hearts and willing hands ready to fight against the English knights and bowmen. It was not until the days of Henry VIII that Wales was really conquered; and Scotland kept her own kings until James VI of Scotland became James I of England, in 1603. Even then, Welshmen and Scots did not like Englishmen very much, but after a time they found that it was a good thing for the whole of this little island to have one king and similar laws. When men from Scotland could bring their fish and cattle, and men from Wales their sheep and wool, to sell in English towns, they began to grow rich. When Welsh boys began to go to college in Oxford or Cambridge, their manners grew less shy and wild. When Scottish ladies sometimes made the long journey, by post-chaise or by coach, to London, they learned to drink tea and to wear fashionable dresses trimmed with lace and ribbon.

The Celtic Scotsmen in the Highlands still hated the English and threatened to choose a separate king for themselves. But, little by little, even they began to see that this island is too small to have two kings, or even two parliaments. In 1707, the Scots gave up having their own parliament in Edinburgh. Scotsmen and Welshmen now sit in the English House of Commons. There have been great Scottish and Welsh Prime Ministers of England. It is true that Scottish and Welsh ways are still


SCALE OF MILES
0 20 40 60 80 100
KEY
BOUNDARIES
ROADS TO LONDON IN THE 17TH & 18TH CENTURIES FROM WALES AND SCOTLAND
WAY THE MONKS TRAVELLED PREACHING CHRISTIANITY
UPLANDS
MOUNTAINS
SCOTLAND
IONA
WITH SAINT COLUMBA
WITH SAINT AIDAN
EDINBURGH
BERWICK
HOLY ISLAND
HADRIAN'S WALL
CARLISLE
NORTHERN IRELAND
BELFAST
NORTHALLERTON
YORK
IRISH SEA
WITH SAINT PATRICK
PRESTON
DONCASTER
DUBLIN
EIRE
CHESTER
STONE
LICHFIELD
COVENTRY
CAMBRIDGE
ROYSTON
FISHGUARD
WALES
HEREFORD
GLOUCESTER
OXFORD
ST. ALBANS
CARMARTHEN
ABINGDON
LONDON
FRANCE

different from English ways. Many Welsh boys and girls, and some Scottish boys and girls, speak their own tongue more easily than they speak English. But English people have learnt to love Scotland and Wales, to admire their music and their dancing, and the Welsh stories of King Arthur, and Scottish ballads and the poems of Robert Burns, while Scots and Welshmen feel friendly to England and serve her in all sorts of ways, in peace and in war.

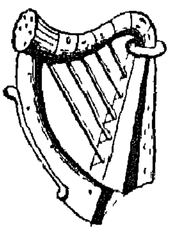
Ireland has a sadder history, for English kings found her people wilder and harder to conquer than even Scots and Welshmen. The men of Queen Elizabeth's day were shocked when they went across the Irish Sea and found Irishmen wearing rough frieze shirts and living in one-roomed cabins, with their pigs running in and out amongst them. They could not understand the Irish language, nor the way in which all the family of uncles and cousins owned the land, instead of it belonging to the squires as it did in England. They were shocked, too, by the way in which the clans fought each other instead of taking their quarrels before a judge. They tried to turn Irishmen into Englishmen. They forbade them to use their own language or their old family names. They tried to make them wear cloth, and silk doublets and hose, such as Englishmen wore. In large parts of the north of Ireland, they took the land from the Irish. They brought Scots, and even Englishmen, over to live in Ireland, and gave the land to them. They would not let the Irishmen make their own laws.

The richer Irishmen began to leave the country, to live in England or even in America. Those who stayed bought their clothes in England. The poorer Irish people grew poorer still. No one would buy their linen and frieze cloth. They grew corn and potatoes on their land, but they had to sell the corn overseas, and live on potatoes themselves. Sometimes, when the potato crop failed, men and women and children died of starvation. So it came about, that while the men and women of English and Scots descent who lived in northern Ireland, liked and respected England, those who lived in the south and west, hated her. Sometimes they came over to England to work, and frightened and hurt English people by throwing bombs into town halls or post offices. Sometimes they went across the sea to America, and became citizens of the United States. They told in that country tales of how English rule had made their lovely land poor and miserable. Sometimes they stayed at home and burnt down the houses of their landlords. Englishmen in the Houses of Parliament in London made stern laws to try to stop these things. English judges in England and Ireland punished the men who threw bombs, and burnt houses, but the Irish only hated them the more.

Yet there were English people who loved Ireland, and others who thought England had made a mistake in trying to rule Irishmen against their will, and taking their lands from them to give to strangers. These men and women tried to find

ways of helping the Irish, when their potato crops failed. They made laws to protect them against the cruel ways in which their landlords treated them. One great Prime Minister, Mr. Gladstone, spent many years in trying to persuade England to let Ireland rule herself by her own Parliament once more. But Englishmen were afraid to do this. They thought it would be deserting the people in northern Ireland, who looked to them for protection against the men of the south.

At last, in 1921, after much sorrow and suffering, Ireland was divided into two parts, each with a Parliament of its own. Northern Ireland, with its Parliament in Belfast, is part of the United Kingdom and also sends members to the Houses of Parliament in London. The rest of Ireland, called Eire, has its Parliament (or Dail) in Dublin, and it is in many ways like a foreign country. Perhaps, one day, bitter memories may die, and Irishmen and Englishmen will learn to work together, to make the world a better place for men and women, and boys and girls, of every race and tongue.



St Patrick's Harp
and
St George's Dragon



CHAPTER TWENTY-TWO

COMMONWEALTH AND EMPIRE

IF to-day we open our atlases and turn to a map of the world, it looks very different from the map that young Richard Hakluyt gazed at, over three hundred years ago. Where he read "Unknown Lands", and saw only vague coastlines, we can read names of rivers and mountains, lakes and villages, and even great cities. We can find railway routes, great ports and shipping routes between them, and a network of air routes. Who were the men who made these new maps possible, and why did they set out on such tremendous adventures?

They were men—and women, too—from many different countries. The Portuguese were the first to venture down the mysterious coast of Africa and round the Cape of Good Hope, to trade with dusky Indians in the East India islands, and on the mainland of India. The Dutch also went eastward to the East Indies, and were the first white men to settle in Cape Town and South Africa, and in some of the Pacific islands. The Spaniards sent knights and adventurers and missionaries to trade and explore and settle in Mexico and Peru, and along the western shores of North America, where the towns still bear Spanish names and have little old Spanish churches with bells in the towers which were cast in Spain. The British people, especially the English and the Scots, have taken the

English language and English laws and customs to very many parts of the world.

Sometimes these different people helped each other, as the Portuguese helped the Scotsman, David Livingstone, after he had crossed Africa for the first time. Too often they quarrelled, and fought, as if there was not enough room in all the world for everybody, and not enough good things to share. Thus, the French and the English fought one another for the possession of the wide lands of the Mississippi valley, and for the great river, St. Lawrence, in North America. They fought also for the right to set up trading stations in India, and each side bribed the Indian princes to help to drive the other away. So also, much later, the English and the Dutch fought in Cape Colony and the Transvaal, until, at last, their descendants agreed to live side by side as fellow citizens in the new Union of South Africa.

British people have gone to these far distant lands for many different reasons. Some have not been able to live happily at home. Sometimes they did not like going to their parish church. They thought that the clergyman's white surplice, the candles on the altar, or the things the parson taught them, or the words of the prayer book, were wrong. They tried to worship by themselves in barns or stables, but, in the days of Queen Elizabeth and James I, the law of the land forbade them to do this. Justices of the peace, or constables, found them out and made them pay heavy fines, and sometimes threw them into prison. So, with many tears at

leaving their quiet fields and farms, or the narrow stone-paved street of their little towns, they sailed away to the unknown shores of North America

After terrible hardships, they built new villages for themselves; they cut down the forests, and ploughed fields, and protected themselves as best they could against the fierce Red Indian tribes Other men and women could find no work to do at home as their lands had been taken from them to turn into sheep-walks, or they could not make enough money, by weaving or spinning, to dress and feed their children. Some of these also went to North America, and though many died on the long voyage, and others were killed by Indians, some at last managed to build houses, and to make great plantations of tobacco and cotton.

The great-grandchildren of these first English settlers in North America quarrelled with the English King, George III, and his Parliament, over a hundred and fifty years ago. They said that Parliament was trying to prevent them growing rich by trading with other lands, and was making them pay taxes, which they themselves had not been allowed to vote for in their own parliaments or assemblies. The farmers and the townsfolk shouldered their guns and, under General George Washington, marched to fight the British soldiers, and at last drove them out of the land. So these English settlers in the New World became the first citizens of the United States of America.

But English men and women were also making homes for themselves along the banks of the

St. Lawrence River, and the shores of the Great Lakes, on land which had been conquered from the French. Some, a little later, went to live in the lands round the Cape of Good Hope, which were taken from the Dutch. Yet others made an even greater venture. They sailed as far as the shores of Australia and New Zealand, which had first been explored by the Dutchman, Tasman, and the Englishman, Captain Cook. Englishmen at home had learnt wisdom from the rebellion of the first American colonies. They allowed the men and women in these new lands to have their own parliaments, to make their own laws, and to vote for their own taxes. Little by little, the colonists themselves learnt to live in peace with the Frenchmen and the Dutchmen, who had made their homes in those far lands before them. These four great countries, Canada, Australia, New Zealand and South Africa, were the first British Dominions; their men and women rule themselves as freely as we do at home, but yet are all subjects of one king They feel affection and loyalty and respect for these little islands, from which so many of their forefathers came.

But some Englishmen have gone to lands where it is not easy for white men to live all their lives. They are so hot, that they are not healthy countries for British children to grow up in. Such lands are India and Ceylon, West and East Africa, the West Indian islands, and some of the islands in the Pacific Ocean. To the greatest of these—India—the English traders, known as the East India Company,

began to sail at the end of Queen Elizabeth's reign.

They found in India a land where lived brown-skinned men of many different races: some tall, and not much darker in colour than men who live upon the European shores of the Mediterranean, some small and wiry, some squat and very dark. Some were great horsemen and loved fighting. Some were great scholars and artists, as skilled as many Europeans in building and painting and learning. Some were craftsmen, making pots on the potter's wheel, and spinning finer muslins than any Englishman knew how to make. They were ruled by an emperor, living in Delhi. Though the men of his race had once been strong and proud, no one now troubled to obey him very much. His officers all over the country behaved like princes. The rich people did what they liked, and the poor people were miserable and unprotected.

At first the English traders struggled with the French for the right to build forts, and to buy the ivory and the muslins, the indigo and the saltpetre, which the Indians had to sell. At last, Robert Clive drove the French from India. The East India Company persuaded the Indians to grant them more and more land. There they kept good order, and Indians who lived near by sometimes came to live in the English settlements, because they felt safe there from robbers and lawless men.

Rather more than two hundred and fifty years after the first English traders came to India, a terrible thing happened. Indians were frightened by the

railways, which the Englishmen were beginning to build. The Indian soldiers who had joined the East India Company's army were angry, because they thought they might be asked to cross the sea—a thing which they thought it wrong to do. They rose against their officers. English men and women and children were killed. In the end, British officers and soldiers managed to restore order, but Parliament thought India could no longer be left to the care of the East India Company, so India became part of the British Empire. Queen Victoria was called Empress of India. First in Calcutta, and later in a magnificent new-built capital at Delhi, an Englishman, or sometimes a Scotsman, lived as Viceroy—that is, the man who represented the Queen or King in India.

Ever since those days, many Englishmen and Scotsmen have tried to serve India. They have spent years in that distant land, helping to keep good order, to teach in schools and colleges, to make roads and railways and bridges, to build hospitals, to care for the sick, to help people when their rice crops have failed and they have been near starvation. Little by little, Indian boys and girls have grown to be proud of their country. They have discovered that their forefathers were great artists and builders, and scholars and poets, when Englishmen were still unskilled and unlearned. At last, in 1947, India became self-governing again and the last English Viceroy left Delhi. But India has become not one but two nations. India itself with its capital still at Delhi is a country most of whose inhabitants are Hindu in religion. Pakistan, with a new capital at

Karachi, is peopled chiefly by Muslims, followers of the religion preached by the Prophet Mahommed several hundred years after Jesus.

Other British traders have gone to Jamaica, and the other West Indian islands to grow sugar, to Ceylon to grow tea, to the hot parts of Africa to trade for palm oil, and cocoa and ground nuts. In these countries, it is too hot for white men to work on the land themselves. At first the British traders thought there was no harm in bringing black men from Africa, and selling them to work for white men as slaves. Rather more than a hundred years ago, Englishmen at home began to think it terrible that men should be seized, and carried off from their families, and sold as a horse or a cow might be sold. Men such as William Wilberforce and Zachary Macaulay, worked hard to persuade Parliament to say that there must be no more slavery in lands ruled by Great Britain. In 1833 they succeeded.

Since then, the black and brown men who toil in the sugar plantations, and the palm groves, the cocoa plantations and tea gardens, to send us the sugar and the tea and the cocoa and the bananas we like to see on our tables, and the nuts from which we get the oil to make margarine, have been free men. But they are simple folk, and they do not like to work very hard in such a hot climate, so that often they do not earn very much, and are very poor. Some of them in Africa are still partly ruled by their own chieftains, but British civil servants are sent out to help them. These are the lands called

colonies, but when the black and brown-skinned men who live and work there are ready to do so, they, too, will be allowed to rule themselves. Ceylon was the first Colony to become, in 1948, a Dominion.

Perhaps the greatest of all the adventurers in the history of the British Empire are the men and women who have gone to Africa and India, and the Pacific Islands, as missionaries, doctors and nurses. They have left their homes and their friends, without seeking anything for themselves. They have served all their lives as doctors and nurses, and explorers and teachers. They have gone alone, and often unarmed, to meet the rulers of war-like tribes. They have marched through unexplored jungles and swamps, to save men and women from slavery. They have braved the dangers of malaria and yellow fever, to bring health and teaching to dark-skinned men and women, and children.

CHAPTER TWENTY-THREE

ALL THE WORLD OUR NEIGHBOURS

AND now, as we draw near to the end of our book, there is the sound of a heavy droning in our ears. Lo, and behold, our magic carpet has turned into an aeroplane, and set us down in the twentieth century. What a number of people we have brought with us out of the past! Branwen, in her long homespun gown, and Maximus, in his Roman breastplate, are here. Here, too, are Wott and Leofwin, in their tunics and sheepskin coats. That white-robed figure is Brother Ambrose, the monk. There are the wife of Bath, in her broad-brimmed hat, and Sir Richard Whittington, in his furred gown. Master Richard Hakluyt has brought a quill pen and an ink horn to write an account of all he sees. Parson Collins is joking with Farmer Goodfellow; Thomas Coke is already looking eagerly about him at the distant harvest fields, and John Clare, as soon as he has got over his air-sickness, will draw out paper and pencil to write down the verses which came into his head as he watched the great clouds go sailing by the aeroplane. Robert Owen and Lord Shaftesbury are watching some rosy-faced children, running along the road from school. They notice how tall and strong, and neatly dressed they are.

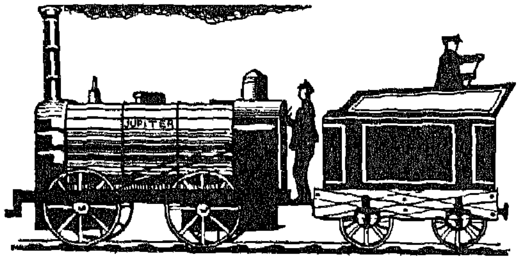
Here is the motor bus, which will take us from the aerodrome to the hotel, where we can have dinner: but the wife of Bath screams when we suggest that

she should get into it and even Parson Collins says he has never seen such a thing as a carriage without horses, and he thinks he would rather walk. So, as they all seem of the same opinion, we must set out on foot. Here is the bridge over the railway cutting. There is a clattering noise. The signal has risen, and there in the far distance is a trail of white smoke. The train is coming. All our companions crowd to the parapet of the bridge and look down. They are excited, and some are frightened, as the great engine, with its long stream-lined body, its flag of smoke, and its busy crank-shafts, draws near. Even the straight shining lines of the rails surprise them. "What is it?" they cry.

Robert Owen and Lord Shaftesbury know what it is, and even John Clare has seen something like it before—like it, and yet different! I expect Wott and Leofwin are too frightened to ask questions, but Brother Ambrose, and Whittington and Hakluyt, crowd round, eager to know how it works. Perhaps Mr. Owen or Lord Shaftesbury will explain how, when they were young, numbers of men who were interested in machines were trying to discover how the great wheels which James Watt had taught men to turn by steam, could be made to run along the ground. "It was Trevithick, the Cornishman, and Mr. Blackett and his men of Wylam Colliery in Northumberland, and George Stephenson, the engineman at Killingworth colliery, who really succeeded," they will say, "but of all of them, Stephenson was the most persevering, and it was he who persuaded Mr. Edward Pease, of

Darlington, to make a steam rail-road to carry his coals from the mines at Stockton to the river port of Darlington." "But, bless my soul!" says Robert Owen, "this is a very different sort of engine from Stephenson's Rocket. For one thing, it is very much larger. Then, the Rocket had a great tall funnel, and high wheels, and you could see its pistons and its cranks easily."

"Why yes," Lord Shaftesbury will add, "and these great coaches which are slipping past us so easily! How comfortable they look, with their padded seats, and big windows and long corridors! I suppose they belong to the railway company. Do you remember how, in the early days, if we wanted to travel in the trains, we had our own horse chaises hoisted on to trucks, and travelled in those? And the poorer people travelled in roofless waggons, rather like cattle trucks. And how people hated the locomotive at first! They said they would frighten the cows and prevent them giving milk, or that they would scare away all the foxes and put an end to hunting. But they soon got used to them, and by the time I was forty or fifty years old,



An early steam engine

railways were being built all over England, and English engineers were going to France and Germany and Italy to help to build lines there."

"Why yes," says John Clare, "but I remember when there was talk of bringing the line from London to Scotland through Stamford town, near my old home, the people would not have the horrid, noisy, dangerous thing." "Yes," we shall say, "but the railway makers would not be defeated. They took the line through Peterborough instead. That is why Peterborough grew into a big town, with railway and other engineering works, and Stamford remained a little market town. All the same, Stamford has kept its lovely old churches and houses, and there is very little that is old left in Peterborough, except the Cathedral."

"Why, that is all very interesting, but you could not make steam drive a ship, I suppose, could you?" says Richard Hakluyt. "That would be a rare thing to do!"

"It has been done," says Mr. Owen, "They say it was done first by a Scotsman, on the river Clyde, and copied from him by Robert Fulton, on the river Hudson, in the United States. Soon the steamers, as they were called, were safe enough to put out into the Channel, and I remember the day, in 1833, when the *Royal William* arrived in London docks from Canada. She had crossed the Atlantic, under her own steam, in twenty days."

"Ah, yes," says Lord Shaftesbury, "but in 1882, the crossing from New York took less than seven days. That's a wonderful speed! It makes America almost a near neighbour."

"She is a nearer neighbour to-day," we shall perhaps say. "We can cross the Atlantic in half a day, and we can talk to each other. People in Canada and South Africa, and even Australia, can hear the King speaking to them from London."

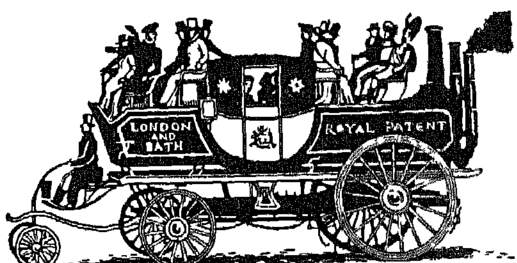
But here, the wife of Bath, who loves a joke, nudges us in the ribs with her elbow. She tells us with a chuckle, that she knows a tall tale when she hears one. She says she doesn't even know where the places are we are talking about, but even if she did, she wouldn't believe us. Why, how could we talk to anyone beyond shouting distance? If we could, it must be by magic, and though she's not ashamed to make a love charm now and again to help a young girl to find a loving husband, she's not going to deal in black magic.

But here, Maximus speaks. He says that there may be something in it. Men can do such wonderful things! In his time, they carried water from place to place on great arches. They warmed houses by hot air, and drove roads over hill and dale. He doubts not that they may do more wonderful things yet. He would like to hear what we have to say. Sir Richard Whittington agrees, and so does Brother Ambrose, and Master Hakluyt. "For," say they, "the mind of man is marvellous. It is forever, by the mercy of God, finding out new things."

So, to please them, we must try to explain how many men, working in many lands, have by one or two great discoveries drawn all the world together. First of all, we had better tell how, even before the

invention of railways, both Englishmen and Frenchmen, Dutchmen and Germans had for many years tried to find ways of driving a coach along a road without using men or animals to pull it. They were not very successful, until they discovered that steam could be used to force a piston up and down in a cylinder. They fastened the piston by a horizontal shaft to the crank of a wheel, and so made the wheel turn, as the shaft moved backwards and forwards. As soon as this discovery had been made, men began to build steam coaches, which ran along the ordinary roads of England. When Lord Shaftesbury was a young man, some of these coaches could move at fifteen miles an hour or more, and climb steep hills.

But steam coaches, we must tell our friends, were heavy and clumsy, because the water in the cylinder had to be heated by a furnace and a boiler, such as drives a steam train. This took up a great deal of room in the coach. If only some kind of heat could be made without the boiler and the fire! As soon as men began to want this, they set to work to discover how to get it. The discovery, that was



"The New Steam Carriage," 1828

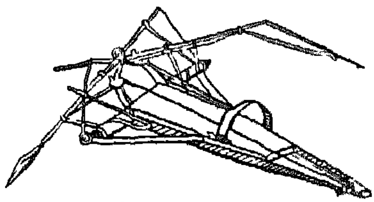
made by different men in different countries at about the same time, is what is called the internal combustion engine. That is, an engine whose wheels are driven by pressing a mixture of air and petrol into a small space inside the cylinder. Then the mixture is exploded, so that it expands and forces the piston down, and so drives the shaft and the crank, and turns the axle of the wheel.

An engine, such as this, takes up very little space. Soon, men were fitting it into small carriages which they called motor cars, or automobiles, and into bigger cars, which could carry a number of passengers. "The omnibus, which frightened you when we landed, was one of these motor buses," we shall say. "The first ones were seen in the streets of London about ten years before the first World War. Soon the old buses which had been drawn by two big horses, disappeared. Now, motorbuses carry people between most of the towns and villages of England, and comfortable motor coaches make long journeys from the big cities, to east and west, and north and south." We tell them, too, that there are big comfortable motor cars, which can run at eighty miles an hour, and little light cars, which can do forty or fifty. "All sorts of people have cars," we shall say. "They use them for business and for holidays, for taking children to school, or for travelling about the roads to sell things, rather like the old pedlars used to do. But what is more wonderful still, is that men can use those engines to fly with."

Brother Ambrose becomes much excited. "Have

they done it?" he cries. "Oh, how men longed to fly, when I was young! I heard men talk of it when I was a boy; and in the cloisters, as I sat over my carving, and made birds peeping through the rough vine leaves, or as I watched the martins making their nests under the cloister eaves, I dreamed and dreamed that perhaps one day I might find the secret."

"And the great Leonardo, the Italian artist, in my day," says Richard Hakluyt, "how many hours he spent and how near he came to success!"



Leonardo's Flying Machine

"Well, all I can say," chuckles the wife of Bath, "is that it would have been much simpler to go on pilgrimages to Jerusalem if I could have flown there instead of crossing the sea, tossing in a little bit of a boat, and then walking and riding half across Europe."

"Yes, it has been done," we tell them. "First, men tried to make great balloons, lighter than air, and to drive them with gas or petrol engines. These were dangerous, and many men died in trying to use them. Then there were men who tried to glide without engines, and men who built machines heavier than air, driven by engines like those used in cars. These men, Frenchmen and

Germans, Englishmen and Americans, were brave. They were only learning how to make aeroplanes. Every time they flew, they knew they might crash to the earth. Many of them did crash, and were killed, but the work went on. Now, men can fly all over the world. Aeroplanes carry letters and parcels and men to distant lands in less time than it took to go from London to Paris in your day, Master Hakluyt."

"Wonderful, wonderful!" they exclaim. "But what was it you said about being able to hear people speak across the world?"

"Ah, that is the second great discovery. It all began because a blacksmith's son, called Michael Faraday, discovered that electric currents can be generated by an instrument called a dynamo. First, men succeeded in sending signals along a wire, by means of an electric current, with a needle at the end which recorded the signal. Then, an American, called Morse, thought of a code of dots and dashes to stand for the letters of the alphabet. When the needle at the end of the wire recorded the dots and dashes, they could be turned into words, and the message read. We call this the electric telegraph, and men have discovered how to wrap the wires so that they can be laid across ocean beds, so that we can send telegrams to all parts of the world by what is called a cable.

"Later, a young Scotsman called Alexander Bell, who had gone to live in America, thought that he could send sound vibrations by electricity through the wire. He made an instrument—the transmitter—into which he could speak, at one end of a wire

which caused a disc like the drum of our ears to vibrate at the other end. This we call the telephone. It has been improved until a man in Vienna or Paris can hear when he is spoken to by a man in London.

"The last of these great discoveries was made by an Italian, called Marconi. He found that sound waves could be sent through the air without wires. It is because of his discovery that the King of England can be heard, when he speaks into a microphone, by his subjects all over the Empire. So you see, because of cars and aeroplanes, and telegrams and telephones, and wireless sets, men all over the world have become closer neighbours than the men of Yorkshire, and the men of Devon in olden days. That is one reason why we must discover ways of living together as good neighbours, and sharing the good things of the world—the food and clothes, and oil and metals we all need, helping each other—British and Americans, Frenchmen and Germans, Russians and Indians, black people and yellow people—and all the men in all the lands, in every way we can."

QUESTIONS AND EXERCISES

Chapter One

1 Look at the map on page 28 Find all the names you think show settlements of early British folk, and any of English Danes or Norsemen Notice in which part of the country they are.

2 Look at the plan and pictures on pages 6 and 7 How many walls and ditches had this camp? Where would the gates be?

3 Make a list of surnames of children in your school or class which show what work their forefathers did

4. What old houses or barns or roads can you think of or find in your neighbourhood? Make a sketch map of your town or village and put them in with dates, if possible, underneath them

Chapter Two

1 Read the description of the camp on page 13 and make a plan of it

2. With your book shut write a description of the house where the woman and two girls lived.

3 Write a letter to a friend describing your walk with Maximus

4 Look at the map on page 17 Why were there few villas north of York (Eboricum)?

5. Why could the Roman soldiers conquer the Britons? Which parts of the British Isles did they never conquer? Look at the map on page 31 and say what you notice about the place-names in these parts.

Chapter Three

1 Look at the picture of the house on page 21 and read again the description of Claudia's house Would you like to have lived in such a house? If so, why?

2 Imagine you are a country boy coming to stay in the town you have read about in this chapter. Describe what you would see

3 If you know of the remains of any Roman houses, roads, or camps near your school, mark them on your sketch map

4 Make drawings of things made in Roman Britain. Write an explanation of them underneath

Chapter Four

1. How many different sets of people who invaded Britain are mentioned in this chapter? Where did each come from? Mark them on your time chart
2. Begin to make a collection of drawings of all the different kinds of ships mentioned in this book. Write underneath the century in which each was used
3. Look again at your chapter and write down two ways in which you might know whether the earliest Englishmen settled in your neighbourhood.
4. Find out the name and story of the Christian missionary who converted your part of this country Draw a design for a banner in his honour.

Chapter Five

1. Make a story about some offence committed in Saxon times and say what happened to the offender.
2. Do you think it was a good plan to make everyone act as policemen in Saxon times? Explain why you think as you do
3. The people who sat on three sides of the open square described on page 45 were called "Doomsmen", in what ways was their work different from that of Jurymen to-day?
4. Make a picture to illustrate any part of this chapter Be careful to dress your people in the sort of clothes shown on pages 60 and 62.

Chapter Six

1. With your book closed make a list of the things which Edward the Confessor disliked in England.
2. Make a drawing of a doorway or window or a pillar of a church built (*a*) in Saxon, (*b*) in Norman times. Leave space on your page to add drawings of churches built in the thirteenth, fourteenth and fifteenth centuries
3. Imagine that you are an English peasant living in a village when the new Norman lord came. Write a story about what you did and said
4. Copy the pictures of the Roman soldiers on page 13 and the Norman soldiers on page 49 Write underneath the difference in their armour

Chapter Seven

1. Add a drawing to the page you began showing a window or a doorway of a church built in Henry III's time Look at the century on your time chart
2. What was the great difference in the days of Henry III between a village in the Midlands and a village in Norfolk? Can you find any other differences which were true in your own part of the country?
3. Make a drawing of a plough in the reign of Henry III and a plough used to-day. Say underneath which you would rather use and why
4. Try to discover how many acres there are in any cornfield you know in your parish. Why were the fields described on page 59 so much larger?

Chapter Eight

1. Think of all the reasons you can why your town, or the nearest town to your village, stands where it does Make a sketch map and explain your answer.
2. Imagine that you have been chosen to be a watchman in your town in the reign of Edward I Describe some of your adventures
3. Write out an "agenda" or a list of things to be done at a court held by the Mayor and Brethren of your town on the Tuesday in Easter Week, 1297.

Chapter Nine

1. With your book shut, make a list of the things which made Alan's family discontented
2. Why do you think the country folk (page 89) wanted to pay 4d an acre for their land instead of working for their lord?
3. If you can find the story of the peasants' journey to London in another book, read it. Then imagine that you are Alan's son John and describe his adventures

Chapter Ten

1. Add a drawing of part of a church built in Dick Whittington's time to those you have already drawn.
2. Add a drawing of the sort of ship in which Dick Whittington sent his goods overseas to the page you began when you read Chapter Four
3. Explain why such people as the wife of Bath and Sir Richard Whittington were important in the fifteenth century.

Chapter Eleven

1. Would you like to have been Brother Ambrose? Say why you feel as you do
2. Copy the plan of a monastery on page 72 carefully into your book Mark on it the church, the cloister, the dormitory and the refectory, and say for what each was used.
3. Give three reasons why King Henry VIII turned the monks out of the monasteries
4. Do you think the visitors went the right or the wrong way to work to get fair evidence about the state of the monasteries?

Chapter Twelve

1. Imagine that you are young Richard Hakluyt Write a letter to your father describing your journey to London
2. What new things was it possible for boys to learn about when Richard was at school?
3. Add a drawing of a ship of Richard Hakluyt's day to your [illegible] Look at your Time Chart to see how long after Whittington's ship it was
4. Read the stories of Hawkins and Drake and of the *Revenge* in Hakluyt's book.

Chapter Thirteen

1. Write out an "agenda" or list of things to be done at an Easter Vestry meeting in 1635.
2. Using the best items from all the agenda you have made, hold a Vestry Meeting in your classroom.
3. Find out whether (*a*) Vestry Meetings, (*b*) Quarter Sessions are still held. If not, or if they do not do all the work they used to do, who does it now?

Chapter Fourteen

1. Write down as many reasons as you can find why roads were bad in the reign of Charles I
2. Look carefully at the picture on page 133 and write a description of your visit to Frost Fair.
3. Make a drawing of a coach and a covered waggon Leave room on the page for pictures of later ways of travelling
4. Write an adventure story about a toll-gate

Chapter Fifteen

1. Read pages 138 and 139 again carefully and say what you think Jane Dutton's friend meant when she said, "Then, my dear, all you will see will be one blade of grass and two rabbits fighting for it."
2. Make a list of the things William Coke did to improve his Norfolk estates.
3. Imagine that you are a poor man living in a village which has just been "enclosed". Describe what has happened to you.
4. If you live in a village try to follow the suggestions at the end of this chapter. If you live in a town see whether you can discover any remains of a common which was used by the people when your town was a village. To whom does it belong now?

Chapter Sixteen

1. If you had been a member of Parliament 150 years ago what laws would you have wanted to make to protect children?
2. Write an imaginary conversation between Anthony Ashley Cooper, John Wesley and John Clare describing their boyhood.
3. If you can find anyone who will answer the questions suggested at the end of this chapter, write an account of what they tell you, and read it to your class.

Chapter Seventeen

1. Look at the picture of the innyard, imagine that you are the person standing on the balcony and write a description of what is happening. Where would it come on your Time Chart?
2. Read pages 154–7 carefully and pick out four reasons why towns grew large quickly when Queen Victoria was young. Look at the drawing on page 172.
3. Imagine that you have been able to find no work in your village and have gone to live in a town and work in a factory when Queen Victoria was young. Write a letter to a friend describing the town and your life in it.
4. Make a list of things which were done to help the people living in the new towns and say who did them.

Chapter Eighteen

1 [illegible] of the school described in this chapter [illegible] would [illegible]? Why do you think [illegible]?

2 Do you think the punishments or rewards described [illegible] more sensible?

3 What [illegible] school [illegible] think the right [illegible]

4 How would you plan a school building? Think of the school [illegible] have been well planned or badly planned. Give reasons.

Chapter Nineteen

1 With your books closed write down as many reasons as you can why children were [illegible] and [illegible]

2 Look at the pictures of [illegible] and compare them with the places and pictures [illegible]. Which would be the healthier and pleasanter to live in? Why?

3 Make a list of the things mentioned in this chapter which have been done to help children to be strong and healthy.

4 Mark on a map the parks, playing fields, clinics and welfare centres in your town.

5 Try to find out how many clinics, parks and playing fields there are in your town or village, and how and when they were made, where the water comes from which you use for drinking and washing, and whether there are public baths and wash-houses, and clinics for your baby brothers and sisters. If you have a map of your town in the classroom, it would be interesting to mark all these things on it.

Chapter Twenty

1 If you were a member of a County Council, what committee would you like to be on? Say why.

2 What are rates used for? Is it sensible to grumble at high rates? Give reasons for your answer.

3 Write an account of any County Council clinic, library or other institution you are able to visit.

4 Who provides the water in the taps in your town or village? Where does it come from?

Chapter Twenty-one

1. Write a description of *either* the Irish *or* the Welsh people in the days before they were conquered by the English.
2. Why did King Edward I want to conquer Scotland and Wales?
3. Imagine that you are a southern Irishman who has gone to live in the United States of America in the days described on page 192 of this chapter. What would you tell your new neighbours about the Englishman?

Chapter Twenty-two

1. Explain as clearly as you can the differences between the British Dominions and the British Colonies.
2. Make a list of some of the good things British men and women have done for the black and brown-skinned people of the Commonwealth
3. Read the story of David Livingstone or Sir Ronald Ross, or any other British explorer, missionary or doctor who has tried to help the men and women of India or Africa. Be prepared to tell the story to your class.

Chapter Twenty-three

1. Complete your sheets of drawings of boats with an early steamship and a modern liner
2. With your book closed, make a list of the things which make us to-day feel nearer to Australia than our grandfathers felt to Paris
3. Complete your sheets of drawings of ways of travelling with an early engine and a modern train, an early car and a modern car. Make a fresh sheet showing early and modern aeroplanes.
4. Look at the picture on page 207. Write as full a description as you can of the steam-coach. Where is the boiler? Where is the brake? How many passengers are there (*a*) outside, (*b*) inside? Why has it the royal coat of arms on the panel? Where does the driver sit? What is the curved handle he holds?